सर्वदा तामनुव्रता—यह भी प्रतीकार्थक है। मेरी सखी ने मेरा साथ छोड़ दिया फिर भी मैं दिन-रात उसका अनुगमन करती रही। अर्थात् इसका तात्पर्य यह है कि बुद्धि से जीवात्मा का तादात्म्य हो गया और वह बुद्धि के व्यापारों को अपना ही व्यापार मानने लगा।

प्रौढस्त्रियम्—अस्थिर ने अपनी दादी की अनुमति से एक प्रौढा स्त्री से सम्बन्ध जोड़ लिया। यह प्रौढा स्त्री कल्पना है।

चपला सम्यगस्थिरेण युता सुषुवे पञ्चतनयान् मयि सख्या निवेशिता—अस्थिर के साथ रहकर चपला ने पाँच पुत्रों को जन्म दिया। तात्पर्य यह है कि ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। यथा—श्रवणेन्द्रिय, त्वगिन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय। ये माता-पिता के बड़े अनुगत थे। तात्पर्य यह कि ये इन्द्रिय-वर्ग मन की कल्पना-शक्ति को बढ़ाने में सहायक होते हैं। मेरी सखी ने इन्हें भी मुझे ही सौंप दिया। तात्पर्य यह है कि उनका भी चैतन्य जीवात्मा से तादात्म्य हो गया।

महाशना—यह नाम भी प्रतीकात्मक है। आशा विषयभोगों से कभी तृप्त न होने के कारण इसे 'महाशना' कहा गया है। 'ज्वालामुख' क्रोध है और 'निन्द्यवृत्त' लोभ।

तां सदानुमता चाहं लुप्तप्रायाभवम्—उनके साथ मैं भी लुप्त हो गई। अर्थात् जब जीव की उपाधिबुद्धि रजोगुण और तमोगुण रूप लोभ एवं क्रोध से व्याप्त हो गया तो चित्स्वरूप का भान न होने के कारण मानो जीवात्मा लुप्त हो गया।

पुरं प्राप दश द्वारम्—दस द्वार वाले एक नगर में जा पहुँचा। यह नगर शरीर है, जिसमें दस द्वार अर्थात् दस इन्द्रियाँ हैं।

मया सर्वं हि रक्षितम्—हेममाला ने ही उन सबों की रक्षा की। अर्थात् जीवात्मा के रहने पर ही ये सब जीवित रहते हैं। अन्यथा इनका अस्तित्व ही नगण्य है।

सर्वाधाराप्यनाश्रिता—सब कुछ जानकर भी वह अनजान थी, सबका आधार होकर भी निराधार थी। तात्पर्य यह है कि शुद्धचिति में ही सब का भास होता है, इसलिए वह सबका आश्रय तो है, किन्तु वास्तव में उसमें किसी की सत्ता नहीं है, अतः उसे किसी आधेय का आधार नहीं कह सकते हैं। सब उसी में भासते हैं, अतः वह सबका आधार है। परन्तु उसका कोई अन्य प्रकाशक नहीं है, वह स्वयं प्रकाश है, अतः निराधार है; क्योंकि उससे भिन्न किसी की सत्ता नहीं है।

महानन्दाप्यनानन्दा—स्वरूपतः आनन्दस्वरूपा होने के बावजूद भी कोई निमित्त न होने के कारण उसमें आनन्द का आविर्भाव नहीं होता। 'महामन्त्रवती चाहम्' से अघटित घटना-पटीयसी महामाया से तात्पर्य है। प्रचार नामक प्रिय सखा 'प्राण' है तथा दोनों द्वारों से दोनों नासिकारन्ध्र का बोध होता है।

तस्या सखी—इससे तात्पर्य अविद्या या शून्या से है। अपना पुत्र मोह है। अपनी माता से तात्पर्य—सुषुप्ति में जीव का अपने शुद्ध स्वरूप या शुद्धचिति से संयोग हो जाता है। श्रुति में कहा गया है—**'सता सोम्यवदा सम्पन्नो भवति'**।

सदेकसङ्गाद्युक्तिम्, सत्पतिम्, हत्वा, बध्वा—एकान्त में अर्थात् विषयावभास से रहित हो 'मुझ से मिली' अर्थात् शुद्धचिदाकार हो गई। युक्ति का तात्पर्य वैराग्य से है। सत्पति विवेक को कहा गया है। क्रोध और लोभ को मार कर ज्ञानेन्द्रियों को बाँध लिया। ये ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं—श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी'।

मातपुरमासादयत्—माता की नगरी से तात्पर्य यहाँ शुद्धचित्स्वरूप में स्थित हो जाना है। दुराचारी बेटे का मतलब मन से है तथा अपनी माता शुद्धचिति है। इस तरह यह सम्पूर्ण रूपक ज्ञान और वैराग्य परक है। अन्तःसलिला फल्गु की तरह कथा का स्वरूप सर्वत्र द्व्यर्थक है। गम्भीर अर्थ विवेचन-सापेक्ष्य है।

प्रज्ञा कैसे उपलब्ध हो, इसी पर यह सम्पूर्ण चिन्तन आधारित है। हममें जो ज्ञानशक्ति है, वह विषयमुक्त होते ही प्रज्ञा बन जाती है। चित्त में ऐसी क्रान्ति समाधि से उत्पन्न होती है। समाधि-साधना के प्रमुख तीन अंग हैं—चित्तविषयों के प्रति अनासक्ति, चित्तवृत्तियों के प्रति जागरूकता और चित्तसाक्षी की स्मृति।

चित्तविषयों के प्रति अनासक्ति से उससे संस्कार बनने बन्द हो जाते हैं और चित्तवृत्तियों के प्रति जागरूकता से उन वृत्तियों का क्रमशः विसर्जन प्रारंभ होता है और चित्तसाक्षी की स्मृति से स्वयं का द्वार खुलता है।

चित्त और चित्तवृत्तियों के समग्र संस्थान का केन्द्र अहंकार है। उनके विलीन होने से वह भी विसर्जित हो जाता है। तब जो शेष रहता है और जिसकी अनुभूति होती है वही आत्मा है। इसी आत्मा की सही पहचान इस अध्याय में कराने की चेष्टा की गई है।

पंचम अध्याय समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

एवं प्रियावचः श्रुत्वा हेमचूडोऽतिविस्मितः ।
हसन् पप्रच्छ तां कान्तामविद्वान् विदुषीं तदा ॥ १ ॥
प्रिये प्रोक्तं यदेतत्ते खचित्रमिव भाति मे ।
निरालम्बं ············जानाम्येतदशेषतः ॥ २ ॥
नूनं तदप्सरोद्भूता ऋषिणा वर्द्धिता वने ।
संसृष्टयौवनाद्यापि त तारुण्यमलङ्कृता ॥ ३ ॥
वक्ष्यस्यनेकसाहस्रवर्षाणामिव संस्थितिम् ।
भूतग्रस्तोक्तिसदृशवचसा तेऽतिमात्रतः ॥ ४ ॥
असन्दर्भेण किमहं विबुद्ध्यामि यथार्थतः ।
वदते सा सखी क्वास्ते बद्धश्च सखि पुत्रकः ॥ ५ ॥
पुराणि तानि वा कुत्र संस्थितानि तदीरय ।
अस्तु किं तेन वृत्तेन वद मे क्व च सा सखी ॥ ६ ॥
सखीं न प्राप्तवान् मातुरहं तत् प्रतिचारय ।
आर्यास्ति मेऽवरोधे स्वे पितुर्मेऽन्या नहि प्रिया ॥ ७ ॥

अपनी प्रेयसी की ऐसी बातें सुनकर हेमचूड़ हक्का-बक्का रह गया । यह लड़की जीवन के यथार्थ को जानती है—यह वह नहीं जानता था । इसलिए मुस्कुराते हुए उसने उससे पूछा ॥ १ ॥

महबूबा ! तुमने जो कुछ कहा, वह मुझे आसमान में चमकती तसवीर की तरह जान पड़ती है । मैं तो इसे बिलकुल बेतुकी बातें ही समझता हूँ ॥ २ ॥

निश्चय ही देवाङ्गना के गर्भ से तुम्हारी उत्पत्ति है । जंगल में एक तपस्वी ने तुम्हें पाल-पोष कर बड़ा किया है । पौगंड पार कर अभी तो तुमने जवानी की दहलीज पर पाँव ही रखा है ॥ ३ ॥

फिर भी तुम अपनी हजारों साल पुरानी जिन्दगी का ब्यौरा बतला रही हो । तुम्हारी बातों से लगता है जैसे तुम्हारे सिर भूत चढ़कर बोल रहा है ॥ ४ ॥

तुम्हारी सारी बातें बेतुकी लगती हैं, फिर उन्हें मैं कैसे समझूँ ? तुम्हीं बतलाओ, तुम्हारी वह सहेली कहाँ है ? अपने किन बेटों को उसने बाँधा है ? ॥ ५ ॥

यह भी बतलाओ, वे नगर कहाँ हैं ? या और बातें छोड़ो, मुझे केवल इतना भर बतला दो, तुम्हारी वह सहेली कहाँ है ? ॥ ६ ॥

मेरी माँ ने मुझे कोई सहेली नहीं दी, तुम चाहो तो उनसे पूछ लो । वे अपने राजमहल में हैं । उनके सिवा मेरे पिता को और कोई पत्नी नहीं है ॥ ७ ॥

सा वा सखी मे कुत्रास्ते तत्पुत्रो वा वद द्रुतम् ।
मन्येऽहं ते वचो लोके वन्ध्यापुत्रसमाश्रयम् ॥ ८ ॥
यथाह कश्चिन्नटीको विदूषवचोविधौ ।
वन्ध्यापुत्रः समारूढः प्रतिविम्बमहारथम् ॥ ९ ॥
शुक्त्यारोपितहैरण्यभूषणैर्भूषिताङ्गकः ।
आयुधैर्नरशृङ्गोत्थैर्युद्ध्वा गगनकानने ॥ १० ॥
हत्वा भविष्यद्राजानं जित्वा गन्धर्वपत्तनम् ।
मरीचिस्रोतसि स्वाप्नकामिनीभिर्हि खेलति ॥ ११ ॥
तथा तव वचो मन्ये सर्वथाऽसङ्गतं ननु ।
श्रुत्वैवं प्रियवाक्यं सा चतुरा प्राह तं पुनः ॥ १२ ॥
नाथ प्रोक्तं मया यत्ते तत् कथं स्यादपार्थकम् ।
न मादृशानां वचनं निरालम्बं क्वचिद्भवेत् ॥ १३ ॥
मृषा हि तपसां हन्त्री सत्यशीलेषु सा कुतः ।
तपस्विनां कुले कस्माछ्वित्रे सौन्दर्यवद्भवेत् ॥ १४ ॥

अतः मुझे जल्द बतलाओ, मेरी सहेली और उनके बेटे कहाँ है ? मुझे तो तुम्हारी बातें वंध्यापुत्र अर्थात् संसार में कभी न होनेवाली अनहोनी जैसे झूठी लगती हैं ॥ ८ ॥

तुम्हारी बातें ऐसी ही लगतीं हैं जैसे नाटक खेलते समय कोई पात्र भाँड़ की भूमिका में बोले कि बाँझ का बेटा परछाईं के विशाल रथ पर चढ़ा है ॥ ९ ॥

उसने सीप में मढ़े सोने के गहनों से अपने सब अंग सजाये हुए हैं। आदमी के सींगों से बने हथियारों से आसमान में दीखनेवाले जंगल में युद्ध कर भविष्य में होने वाले एक राजा का उसने वध कर दिया और गन्धर्वनगर अर्थात् गाँव आदि का वह मिथ्या आभास, जो आकाश या स्थल में दृष्टिदोष से दिखाई पड़ता हो, उसे जीत कर रेगिस्तान की मृगतृष्णा रूपी सोते में स्वप्नसुन्दरियों के साथ जल-क्रीड़ा कर रहा है ॥ १०–११ ॥

मैं तो तुम्हारी बातों को वैसी ही बेतुकी मानता हूँ। प्रिय की वैसी बातें सुनकर उस चालाक औरत ने फिर उससे कहा ॥ १२ ॥

मेरे मालिक ! मैंने आपसे जो कुछ कहा है, वह बेतुका कैसे हो सकता है ? मेरे जैसे लोगों का कथन बेबुनियाद तो हो ही नहीं सकता ॥ १३ ॥

झूठ बोलने से तो तप भंग होता है। सदाचारी जनों में झूठ की गुंजाइश कहाँ ? सफेद कोढ़ के दागवाली देह में जैसे सौन्दर्य की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी तरह तापस कुल में जन्म लेनेवाले लोगों में झूठ बोलने की सम्भावना नहीं हो सकती ॥ १४ ॥

यो योजयति जिज्ञासुमन्यार्थेन ह्यनात्मतः ।
तस्य नोर्ध्वं न चाधस्ताल्लोकेऽस्ति सुखसाधनम् ॥ १५ ॥
शृणु राजसुतोक्तिं मे लोके तैमिरिकः क्वचित् ।
समदृष्टिं नैति शीघ्रमञ्जनानां वचोगणैः ॥ १६ ॥
असत्यमेव जानाति हितप्रोक्तं च मूढधीः ।
त्वत्वां प्रियाहं जिज्ञासुमसत्यैर्योजयामि किम् ॥ १७ ॥
अप्यसत्यं मयोक्तं यत्तद्विमर्शय सद्धिया ।
लोके हि कुशलो मर्त्यः सर्वव्यवहृतौ ननु ॥ १८ ॥
परीक्ष्यैकांशतः सर्वामभिजानाति संस्थितिम् ।
निदर्शनं प्रदास्यामि तुभ्यमत्र समीक्षया ॥ १९ ॥
यः पुरा विषयः सर्वो बभूवाभीष्टसाधनम् ।
चिरान्मद्वचनात् सोऽद्य कुतो न सुखसाधनम् ॥ २० ॥
स एवाद्य साधयति सुखमन्येषु वै कुतः ।
एतन्निदर्शनेनैव स्वमतं वेत्तुमर्हसि ॥ २१ ॥
शृणु राजन् यद्वि वरं ऋज्वा निर्मलया धिया ।
अनाश्वासो रिपुलोको भवेदाप्तोक्तिषु स्थिरः ॥ २२ ॥

विशेष – श्वित्रम् = सफेद कोढ़–'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन । स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥' (काव्यालङ्कारसू० वृ० ११७)

१५ छोड़कर जो व्यक्ति किसी खोजी या मुमुक्षु को किसी दूसरी दिशा की ओर लगाता है, उन्हें ऊपर या नीचे किसी लोक में सुख नहीं मिलता ॥ १५ ॥

राजकुमार ! मेरी बात सुनिए—संसार में जिसे रतौंधी लगी हो, उसके आगे ... या काजल कह देने से उसे साफ-साफ दिखलाई तो नहीं देने लगती ॥ १६ ॥

... मूर्खों को तो फायदेमन्द बातें भी झूठी ही लगती हैं । आप कुछ जानना चाहते ... मैं आपकी प्रिय पत्नी हूँ, फिर आपको झूठ कैसे कह सकती हूँ ॥ १७ ॥

मान लिया, मैंने आपसे झूठ ही कह दिया । फिर भी आप तो उस पर अपनी बुद्धि ... विचार कर ही सकते हैं । संसार में आदमी तो हर-फन मौला होता है ॥ १८ ॥

किसी भी हालात के एक हिस्से की जाँच कर होशियार आदमी पूरी परि-स्थिति से वाकिफ हो सकता है । विचार करने के लिए आपको मैं एक अनुभव की ... दिलाती हूँ ॥ १९ ॥

जो काम बहुत दिनों से आपके सुख का साधन बना था, वही काम मेरी बात ... के बाद अब सुखकर क्यों नहीं रहे ? ॥ २० ॥

... ही काम अभी भी दूसरों के लिए सुखद हैं क्यों ? बस इसी अनुभव से आप ... के बारे में अपना निर्णय ले सकते हैं ॥ २१ ॥

श्रद्धा माता प्रपन्नं स वत्सलेव सुतं सदा।
रक्षति प्रौढभीतिभ्यः सर्वथा नहि संशयः ॥ २३ ॥
आप्तेष्वश्रद्धितं मूढं जहाति श्रीः सुखं यशः।
स भवेत् सर्वतो हीनो यः श्रद्धारहितो नरः ॥ २४ ॥
श्रद्धा हि जगतां धात्री श्रद्धा सर्वस्य जीवनम्।
अश्रद्धो मातृविषये बालो जीवेत् कथं वद ॥ २५ ॥
अश्रद्धस्तरुणः पत्न्यां कथं स सुखमेधते।
तथापत्येषु स्थविरः कथमीयात् सतीं गतिम् ॥ २६ ॥
अश्रद्धो वा भुवं कस्माद् विकर्षेत् कर्षकः किल।
न प्रवृत्तिर्भवेत् क्वापि त्यागे वा सङ्ग्रहेऽपि वा ॥ २७ ॥
श्रद्धावैधुर्ययोगेन विनश्येज्जगतां स्थितिः।
एकान्तग्रहणाल्लोकप्रवृत्तिरिति चेच्छृणु ॥ २८ ॥
एकान्तग्रहणे वापि श्रद्धा कस्मात् प्रतिष्ठिता।
तत्राप्येकान्तशरणः श्रद्धाशरण एव हि ॥ २९ ॥

राजन् ! श्रेष्ठ बातों को सहज भाव से सुनिए। विश्वस्त व्यक्ति के वचन में विश्वास न करना—अपने आप से दुश्मनी करना है ॥ २२ ॥

श्रद्धा ममतामयी माँ की तरह है। जो व्यक्ति उसकी शरण में जाता है, अपनी सन्तान की तरह वह उसकी रक्षा बड़ी-से-बड़ी विपत्ति में भी करती है। इसमें सन्देह नहीं ॥ २३ ॥

जो व्यक्ति प्रामाणिक पुरुषों में श्रद्धा नहीं रखता, उसका साथ श्री, सुख और कीर्त्ति छोड़ देती है। श्रद्धाविहीन व्यक्ति हर तरह से हीन हो जाता है ॥ २४ ॥

श्रद्धा ही सारी दुनिया की पालन-पोषण करनेवाली धाय है। श्रद्धा ही सबकी जिन्दगी है। आप ही बतलाइये, माँ पर यदि विश्वास न हो तो फिर वह बालक जिन्दा कैसे रहे ॥ २५ ॥

युवा पुरुष यदि अपनी पत्नी में विश्वास न करे तो उसे सुख कैसे मिल सकता है ? और बूढ़े लोगों का विश्वास अपने बच्चों से उठ जाय तो फिर वे चैन से कैसे जी सकते हैं ? ॥ २६ ॥

किसान को यदि अगली फसल मिलने का विश्वास न हो तो वह धरती कैसे जोतेगा ? संचय हो या अपचय, विश्वास नहीं रहने पर मन का लगाव कैसे होगा ॥ २७ ॥

श्रद्धा और विश्वास के अभाव में दुनिया का अस्तित्व खतरे में पड़ जायगा। यदि आप कहें कि दुनिया का व्यवहार तो अलग ढंग से चलता है तो सुनें ॥ २८ ॥

एकान्तग्रहण अर्थात् सार्वजनिक सहवर्त्तिता के बोध में भी भला क्यों विश्वास होता है ? यहाँ भी एकान्तग्रहण में श्रद्धा या विश्वास ही है, इसका सहारा लेना ही श्रद्धा का सहारा है ॥ २९ ॥

तस्माच्छ्रद्धामृते लोकोऽवसीदेदश्वसन् ध्रुवम् ।
तस्माच्छ्रद्धां दृढां प्राप्य सुखमात्यन्तिकं व्रज ॥ ३० ॥
श्रद्धाऽवरे न कार्येति मन्यसे यदि तच्छृणु ।
इयञ्च श्रद्धयैवास्ते प्रवृत्तिर्नृपतेः सुत ॥ ३१ ॥
तत् कथं ते प्रवृत्तिः स्यादिति श्रुत्वा प्रियावचः ।
हेमचूडः प्राह पुनः प्रियां कुशलभाषिणीम् ॥ ३२ ॥
नूनं प्रिये सर्वथैव श्रद्धातव्यं यदा भवेत् ।
श्रद्धा सत्सु विधातव्या यथा श्रेयः समाप्नुयात् ॥ ३३ ॥
असत्सु नो विधातव्या श्रद्धा श्रेयोऽभिवाञ्छिना ।
अन्यथान्तः सुनिशिते कुटिले बडिशे यथा ॥ ३४ ॥
बहिः समे सुपिष्टेन मीनानां नाशमाप्नुयात् ।
तस्मात् सत्स्वेव कर्त्तव्या श्रद्धा नासत्सु कुत्रचित् ॥ ३५ ॥
असत्सु कृत्वा श्रद्धां ये नाशमीयुः परेऽपि च ।
सत्सु श्रेयोयुजः श्रद्धावशतस्ते निदर्शनम् ॥ ३६ ॥

विशेष — एकान्तग्रहण का अर्थ है — व्याप्तिग्रहण अर्थात् किसी एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का पूर्णरूपेण मिला होना । जैसे — 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्य-नियमो व्याप्तिः' । (तर्क०) जो बात एक परिस्थिति में प्रत्यक्ष देखी जाती है, वैसी ही परिस्थिति आने पर वह उसी प्रकार होगी, इसे ही एकान्तग्रहण या व्याप्तिग्रहण कहा जाता है ।

इतना तो निश्चित है कि श्रद्धा के बिना साँसें नहीं चल सकतीं । लोगों का जीना दूभर हो जायेगा । इसलिए आइए, अटूट श्रद्धा पाकर हद से ज्यादा सुख पाइये ॥ ३० ॥

यदि आप मानते हों कि नीच या बुरे लोगों में तो श्रद्धा नहीं होनी चाहिए तो ऐसा सोचना भी राजकुमार ! उसी श्रद्धा के आधार पर है । अन्यथा आपको ऐसा विचार ही कैसे हो सकता था । अपनी प्रेयसी की ऐसी बातें सुनकर, उस बोलने में चतुर तरुणी से हेमचूड़ ने फिर पूछा ॥ ३१–३२ ॥

प्रिये ! तुम्हारे कहने के मुताबिक यदि श्रद्धा करना बिलकुल जरूरी हो तो भी भले लोगों में ही श्रद्धा करनी चाहिए । ताकि कुछ बेहतर मिल सके ॥ ३३ ॥

जिसे बेहतर की इच्छा हो, उसे खोटे लोगों में श्रद्धा नहीं रखनी चाहिए । नहीं तो बाहर से बराबर और भीतर से टेढी, तेज, नुकीली मछली फँसानेवाले औजार बंसी के प्रति श्रद्धा रखकर जैसे मछलियाँ फँसकर जान गँवाती हैं, उसी तरह का हाल हो सकता है । अतः भले लोगों पर ही श्रद्धा रखनी चाहिए, बुरों पर नहीं ॥ ३४–३५ ॥

अतः प्रतीत्यैव युक्ता कर्त्तुं श्रद्धा न चान्यथा ।
तत् कथं ते प्रवृत्तिः स्यादिति प्रश्नः कथं तव ॥ ३७ ॥
इत्युक्ता हेमलेखा सा पुनराह पतिं प्रियम् ।
शृणु राजकुमारेदं प्रोच्यमानं मया वचः ॥ ३८ ॥
यदात्थ त्वं कथं प्रश्न इति तत्र ब्रवीमि ते ।
अथ सन् वा ह्यसन् वायमिति ते निश्चयः कुतः ॥ ३९ ॥
सत्यस्मिन् निश्चये भूयाच्छुभं सच्छ्रद्धयेह वै ।
सोऽपि लक्षणतः स्याच्चेच्छ्रद्धा लक्षणसङ्गता ॥ ४० ॥
प्रमाणाल्लक्षणज्ञानमिति चेत्तत्र संशृणु ।
अश्रद्धस्य प्रमाणं किं भवेत्तत् सुनिरूप्यताम् ॥ ४१ ॥
अन्यथा हि प्रमाता नोऽविसंवाद्येत कुत्रचित् ।
तस्माच्छ्रद्धां समाश्रित्य लोकः सर्वः प्रवर्त्तते ॥ ४२ ॥
तत्प्रकारं प्रवक्ष्यामि शृणु निश्चलचेतसा ।
अनवस्थिततर्को वा ह्यतर्को वापि सर्वथा ॥ ४३ ॥

बुरे लोगों पर श्रद्धा रखकर विनष्ट होनेवाले और भले लोगों पर श्रद्धा रखकर मंगल पानेवाले लोगों के यहाँ अनेक उदाहरण हैं ॥ ३६ ॥

इसलिए भले-बुरे की पहचान के बाद ही किसी के प्रति श्रद्धा करनी चाहिए। वैसे नहीं। ऐसी स्थिति में "श्रद्धा के अभाव में तुम्हारा सांसारिक व्यवहार कैसे होगा" ? फिर इस सवाल का क्या अर्थ है ? ॥ ३७ ॥

अपने प्रिय पति का यह सवाल सुनकर हेमलेखा ने फिर कहा — राजकुमार ! मैं जो बात आपसे कहती हूँ उस पर गौर फरमाइये ॥ ३८ ॥

आपने जो कहा — तुम्हारा यह सवाल कैसे पूछा जा सकता है ? उसमें मेरा इतना ही कहना है कि आप यह निश्चय कैसे करते हैं कि यह आदमी भला है या बुरा ॥ ३९ ॥

यह निश्चय हो जाने पर ही इस बात का निर्णय हो सकेगा कि भले लोगों में श्रद्धा हितकारी होती है। यदि कहें कि इसका निश्चय लक्षणों से होता है तो श्रद्धा लक्षण के अधीन हुई ॥ ४० ॥

किसी पदार्थ की वह विशेषता जिसके द्वारा वह पहचाना जाय उसका बोध प्रमाण से हो सकता है तो सुनिए, जिसे श्रद्धा है ही नहीं, उसके लिए प्रमाण क्या हो सकता है ? ॥ ४१ ॥

तब तो प्रमाता की कोई भी बात अविश्वसनीय प्रतीत नहीं होगी। अतः सभी लोग श्रद्धा का आश्रय लेकर चल रहे हैं ॥ ४२ ॥

आप सावधान होकर सुने — कल्याण कैसे हो ? इसका विविध प्रकार मैं आपको समझाती हूँ। जो व्यक्ति निरर्थक तर्क करे अथवा बिलकुल तर्क करे ही नहीं — ऐसे

श्रेयो न प्राप्नुयाल्लोक इह वापि परत्र वा ।
तत्रातर्कस्य कालेन भवेच्छ्रेयः कदाचन ॥ ४४ ॥
अनवस्थिततर्कस्य न श्रेयः स्यात् कथञ्चन ।
पुरा सह्यगिरौ गोदावरीतीरे हि कौशिकः ॥ ४५ ॥
न्यवसच्छान्तसुमतिर्ज्ञातलोकः सतत्त्वकः ।
तस्य शिष्यास्तु शतशः स्थिता गुरुसमाश्रयात् ॥ ४६ ॥
त एकदा गुरुमनुगता लोकस्य संस्थितिम् ।
निर्णेतुं बुद्धयनुगुणं तदा प्रोचुः परस्परम् ॥ ४७ ॥
तत्राजगाम शुङ्गाख्यो विप्रः कश्चिन्महाबुधः ।
स सर्वेषां मतं प्रोक्तं दूषयद् बुद्धिकौशलात् ॥ ४८ ॥
अश्रद्धया हतप्रज्ञो विवादनिपुणस्तदा ।
प्रमाणात् प्रमितं सत्यमित्युक्तेषु द्विजेष्वथ ॥ ४९ ॥
अनवस्थिततर्को वै प्राह तर्कैकसश्रयः ।
शुङ्गाख्य आक्षिपन् सर्वान् तत्र वादकथान्तरे ॥ ५० ॥
विप्राः शृणुध्वं मद्वाक्यं सत्यं न क्वापि सिद्धयति ।
प्रमितं यत् प्रमाणेन तत् सत्यमिति हीरितम् ॥ ५१ ॥

लोगों का कल्याण न तो संसार में है और न परलोक में होने की सम्भावना ही बनती है ॥ ४३½ ॥

उनमें भी जो कभी तर्क नहीं करता, उनमें कल्याण की सम्भावना कालान्तर में हो सकती है, पर निरर्थक तर्क करनेवाले का कल्याण तो कभी हो ही नहीं सकता ॥ ४४½ ॥

बम्बई प्रान्त में 'सह्यगिरि' नामक एक विख्यात पहाड़ की तराई की ओर बहने वाली गोदावरी नामक नदी के किनारे कौशिक नाम के एक मुनि रहते थे । वे बड़े ही शान्त, सुबुद्धि और संसार के स्वरूप को पहचानने वाले थे । उनके सहारे उनके साथ सैकड़ों शिष्य भी रहते थे ॥ ४५–४६ ॥

एक दिन गुरुदेव आश्रम में नहीं थे । शिष्यों में बहस छिड़ी थी । बहस का विषय था 'दुनियादारी' । सभी अपनी अक्ल के मुताबिक इसे सुलझाने लगे ॥ ४७ ॥

तभी 'शुङ्ग' नाम का एक ब्राह्मण वहाँ आया । वह बड़ा बुद्धिमान् था । उसने अपनी बुद्धि की चतुराई से उनके निश्चित सिद्धान्त को दोषयुक्त प्रमाणित कर दिया ॥ ४८ ॥

शास्त्रों में उसकी श्रद्धा नहीं थी । विवेक उसका साथ छोड़ चुका था । वह तर्क करने में माहिर था । जब शिष्यों ने कहा—सत्य प्रमाण से सिद्ध होता है । तब शुङ्ग ने निरर्थक तर्क का सहारा लेकर कहा—॥ ४९–५० ॥

तत्र तेन दोषयुजा भवेदप्रमितं ननु ।
निश्चेतव्या ततस्त्वादौ प्रमाणानामदुष्टता ॥ ५२ ॥
सा प्रमाणान्तरकृता तत्राप्येवं विचिन्त्यताम् ।
इत्येवमनवस्थानात् न किञ्चित् प्रमितं भवेत् ॥ ५३ ॥
अतः प्रमाता प्रमितं प्रमाणं वा न सिद्धयति ।
तस्माच्छून्याश्रयो ह्येष विकल्पो विविधः स्थितः ॥ ५४ ॥
सोऽपि शून्यात्मतां प्राप्तः प्रमाणाविषयत्वतः ।
तस्माच्छून्यं न किञ्चित् स्यादित्येष प्रविनिर्णयः ॥ ५५ ॥
इति शुङ्कवचः श्रुत्वा तेषु केचिद् द्विजाधमाः ।
तं श्रिता निश्चयाभासं बभूवुः शून्यवादिनः ॥ ५६ ॥
विनाशमीयुस्तन्निष्ठाः शून्यभावं परं गताः ।
ये द्विजाः सारहृदयास्ते शुङ्कस्य प्रभाषितम् ॥ ५७ ॥
निरूप्य कौशिके तेन समाहितहृदोऽभवन् ।
तस्मात् सर्वात्मना त्यक्त्वा तर्कं तमनवस्थितम् ॥ ५८ ॥

मेरी बात सुनो ब्राह्मणो ! सत्य को आपने प्रमाणसिद्ध माना है। इस मान्यता से तो सत्य कभी सिद्ध हो ही नहीं सकता ॥ ५१ ॥

क्योंकि प्रमाण ही यदि दोषयुक्त होगा तो प्रमित का अप्रामाणिक होना निश्चित है। अतः सर्वप्रथम प्रमाणों की निर्दुष्टता का ही निर्णय करना चाहिए ॥ ५२ ॥

और उसमें कोई दोष नहीं है, यह प्रमाणित होगा दूसरे प्रमाणों से। फिर इन्हें निर्दोष साबित करने के लिए ऐसे ही प्रमाणों की आवश्यकता होगी। इस तरह अनवस्था का प्रसंग उपस्थित होने के कारण कुछ भी सिद्ध करना संभव नहीं हो सकेगा ॥ ५३ ॥

प्रमाता अर्थात् वह व्यक्ति जिसे प्रमा का ज्ञान हो, प्रमाण अर्थात् वह बात कोई दूसरी बात सिद्ध हो। प्रमेय अर्थात् जो प्रमाण का विषय हो सके; अनवस्था की स्थिति में प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकते। फिर भी जो ये कई तरह की छाया दिखलाई देती है, उसका सहारा केवल शून्य है ॥ ५४ ॥

और यह शून्य भी प्रमाण का विषय न होने के कारण अभाव मात्र ही है। अतः अन्तिम निर्णय यही है कि शून्य भी कुछ नहीं है ॥ ५५ ॥

शुङ्क की ये ताकिक बातें सुनकर उन शिष्यों में से कुछ छिछले ब्राह्मण उसके छायावादी निर्णय को मानकर शून्यवादी बन गये। शून्य में निष्ठा होने के कारण वे स्वयं भी शून्य अर्थात् जड़ होकर विनष्ट हो गये ॥ ५६½ ॥

किन्तु उनमें जो शिष्य विवेकी थे उन्होंने शुङ्क की बातें मुनि कौशिक के सामने निवेदित कर उनका सही समाधान पा लिया ॥ ५७½ ॥

सदा सदागमायत्तत्तर्कः श्रेयः समाप्नुयात् ।
इति प्रोक्तो हेमचूडः प्रिययात्यन्तधीरया ।। ५९ ।।
पुनः पप्रच्छ चात्यन्तविस्मितस्तां महाशयाम् ।
अहो प्रिये ते वैदुष्यमीदृशं नाविदं पुरा ।। ६० ।।
धन्यासि त्वमहञ्चापि धन्यो यस्त्वामुपागतः ।
ब्रवीषि श्रद्धया सर्वं श्रेयःसिद्धिर्हि तत् कथम् ।। ६१ ।।
कुत्र श्रद्धा विधातव्या कुत्र वा सा न शस्यते ।
आनन्त्यादागमानां वै विरुद्धार्थसमाश्रयात् ।। ६२ ।।
आचार्यमतभेदाच्च व्याख्यातृमतभेदतः ।
स्वबुद्धेरनवस्थानात् किमादेयं न वापि किम् ।। ६३ ।।
वदत्यभिमतं तत् स वदत्येव सुनिश्चितम् ।
अन्यच्चाप्यव्यवसितं हानिप्रदमपि प्रिये ।। ६४ ।।
तत्रैवं सति नैवान्तं कश्चिदत्रापि गच्छति ।
यः शून्यमाह तत्त्वं सोऽप्यशून्यं दूषयेत् परम् ।। ६५ ।।
अश्रद्धेयं कुतो वा तत् सङ्गतं चागमेन हि ।
एतद् ब्रूहि प्रिये सम्यग् न ह्येतत्तेऽस्त्यचिन्तितम् ।। ६६ ।।

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने
श्रद्धाप्रशंसनं नाम षष्ठोऽध्यायः ।

अतः निरर्थक तर्क को छोड़कर जो शास्त्रानुकूल तर्क सदा उपस्थित करता है, उसे ही कल्याण की उपलब्धि मिलती है ।। ५८½ ।।

इस प्रकार बुद्धिमती अपनी प्रिय पत्नी की बातें सुनकर हेमचूड़ अत्यन्त विस्मित हुआ और फिर उस उदार हृदय वाली नारी से पूछा ।। ५९½ ।।

प्रिये ! तुम इतनी बुद्धिमती हो —यह बात पहले मैं नहीं जानता था । तुम धन्य हो और तुम्हें पाकर मैं भी धन्य हुआ । मुझे तुम्हारा सत्संग मिला । 'सम्पूर्ण श्रेय की सिद्धि श्रद्धा से होती है' यह तुम्हारा कहना है । मुझे भी समझा दो ।। ६०-६१ ।।

कहाँ श्रद्धा करनी चाहिए और कहाँ नहीं ? शास्त्र अनेक हैं और उनके अभिप्रायों में भी विरोध हैं ।। ६२ ।।

आचार्यों में मतभेद है । शास्त्रीय व्याख्याकारों में मतभिन्नताएँ हैं । अपनी बुद्धि भी मनुष्य की एक जैसी नहीं रहती हैं । अतः किस सिद्धान्त को माना जाय और किसे नहीं ? ।। ६३ ।।

जिस आचार्य को जो मत मान्य है उसका उल्लेख सर्वदा वह निश्चित रूप से करता है तथा अन्य सिद्धान्तों को वह अनिश्चित एवं हानिप्रद भी बतलाता है ।। ६४ ।।

इन आगमों के अध्ययन से भी कोई कैसे अन्तिम निर्णय तक पहुँच सकता है। जो शून्य को तत्त्व मानता है, वह भी तो अपने विरोधी अशून्य को दोष युक्त पाता है; उसे वह प्रमाणित करता है ॥ ६५ ॥

उनकी बातें भी शास्त्रसंगत तो है ही, फिर उसे भी असंगत तो नहीं ही कहा सकता है। इस पर तुमने विचार नहीं किया है, यह तो संभव नहीं है। अतः हे प्रिये ! मुझे ये सारी बातें तुम ठीक से समझा दो ॥ ६६ ॥

विशेष —'भवानीशङ्करी वन्दे श्रद्धा-विश्वासरूपिणौ'।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्' ॥ —तुलसी

तुलसीदास ने इन दो पंक्तियों में अध्यात्म जगत् में श्रद्धा और विश्वास की कितनी महत्ता है, यह स्पष्ट कर दिया है। इन्हीं दो शब्दों के सहारे हेममाला ने हेमचूड़ की आँखें खोल दी हैं। श्रद्धा और विश्वास का विवेचन कर उसने अपने पति के बहुत से दीर्घपोषित स्वप्न छीन लिये, उसका छिछला ज्ञान छीन लिया और उसे चिन्तन की प्रौढता प्रदान कर दी है। हेममाला की श्रद्धा और विश्वास जन्य निष्पत्तियों ने उसके पति को उसके परम्परागत और रूढिबद्ध चिन्तनों से मुक्त कर दिया, जो वस्तुतः मनुष्य की यथार्थ जीवन-शैली नहीं, मात्र जीवन-शैली का मिथ्या आभास ही थी।

श्रद्धा और विश्वास को छोड़कर मनुष्य जी नहीं सकता। विश्वास से विवेक में आरोहण आन्तरिक श्रद्धा का आकर्षक रूप होता है। हेममाला की दृष्टि में व्याव-हारिक विश्वासवृत्ति मनुष्य को अन्धानुगमन की ओर ले जाती है और यहीं मनुष्य का चित्त पक्षपातों से बँध जाता है तथा जो चित्त पक्षपातों में आवद्ध होता है, वह सत्य को नहीं जान सकता; जीवन के यथार्थ से परिचित नहीं हो सकता। सत्य को जानने के लिए श्रद्धालु होना आवश्यक है—'श्रद्धावान् लभते श्रेयः।'

आप्तजनों की अनुभूतियाँ विश्वास पर ही नहीं, बल्कि विवेकपूर्ण आत्मप्रयोगों पर ही निर्भर थी। उन्होंने जो जाना था, उन्हें ही माना भी था। मानना प्रथम नहीं अन्तिम था। श्रद्धा उनका आधार नहीं शिखर थी। आधार तो ज्ञान था। जिस सत्य और श्रद्धा की बात हेममाला ने की है, वे मात्र उसकी धारणाएँ नहीं हैं; कल्पित या श्रुत कथाएँ नहीं हैं, वरन् स्वानुभूत प्रत्यक्ष है। उनकी अनुभूतियों में कोई भेद नहीं, उसकी श्रद्धा अचंचल है, उसका विश्वास सिर पर चढकर बोलता है।

शास्त्र में, शास्ता में, शासन में विवेकशून्य श्रद्धा परतंत्रता है। शब्द में, सिद्धान्त में, सम्प्रदाय में अन्धविश्वास पर आधारित श्रद्धा शक्तिहीन है। विवेकजन्य विश्वास पर आधारित स्वश्रद्धा सत्य का द्वार खोलने में सशक्त है। विवेक की पृष्ठ-भूमि पर पनपा विश्वास, आत्मज्ञान के प्रकाश से आलोड़ित श्रद्धा 'सत्य' के रहस्य को खोलती है।

जीवन को केवल श्रद्धावान् ही उपलब्ध होते हैं, जो स्वयं के और सभी के भीतर विश्वस्त होकर परमात्मा का अनुभव कर लेते हैं। इस श्रद्धा और विश्वास के अभाव

में हम शरीर मात्र हैं और शरीर जड़ है, जीवन नहीं। जो स्वयं को शरीर मात्र ही जानता है, वह जीवित होकर भी जीवन को नहीं जानता। श्रद्धा और विश्वास की पृष्ठभूमि पर आत्मज्ञान हो तभी मनुष्य का हृदय आलोक से भर जाता है और वह न हो तो उसका पथ अन्धकारपूर्ण होगा ही। मनुष्य में यदि श्रद्धा और विश्वास है तो वह दिव्य बन जाता है और वह न हो तो वह पशुओं से भी बदतर पशु है। जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक हृदय से परमात्मा को भजता है, उसे ही भगवान् मिलते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं— जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक नित्य मुझे भजता है, मैं उसे सर्वोत्तम योगी मानता हूँ—

'पश्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धयापत्योपेतास्ते मे युक्तास्तथा मताः' ॥

षष्ठः अध्याय समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

इति पृष्टा हेमलेखा भर्त्रा प्रियतरेण सा।
प्रोवाच विदुषी सम्यग् विज्ञातलोकसंस्थितिः ॥ १ ॥
शृणु वक्ष्ये प्रियतम स्थिरशान्त समादरात्।
मनो हि मर्कटप्रायमस्थिरं सर्वदैव तत् ॥ २ ॥
यत एवं महानर्थं प्राप्तवान् प्राकृतो जनः।
चलन्मनः सर्वदुःखनिदानं दृष्टमेव हि ॥ ३ ॥
यतः सुषुप्तौ चलनाभावाद्विन्दति वै सुखम्।
तस्मान्मनः स्थिरीकृत्य शृणु यत्ते ब्रवीम्यहम् ॥ ४ ॥
अनादरेण श्रुतश्च भवेदश्रुतसम्मितम्।
अफलं स्यात् तदत्यन्तं यथा चित्रतरुश्रयः ॥ ५ ॥
अनवस्थिततर्कत्वमपहाय विनाशनम्।
सत्तर्कमाश्रित्य जनः प्राप्नुयात् सुफलं द्रुतम् ॥ ६ ॥
सत्तर्कसंश्रयेणाशु साधनैकपरो भवेत्।
सत्तर्कजनितां श्रद्धां प्राप्येह फलभाङ्नरः ॥ ७ ॥

(विचार, ईश्वर तथा निष्काम उपासना के स्वरूप का निर्णय)

अपने प्रिय पति के ऐसा पूछने पर जगत् के यथार्थ रूप को ठीक ढंग से पहचानने वाली परम विदुषी हेममाला ने कहना शुरू किया ॥ १ ॥

मेरे मालिक ! मैं जो कुछ कह रही हूँ, उस पर स्वस्थ और दृढ़ मन से गौर फरमाइये। अब मैं आपके सवाल का जवाब देने जा रही हूँ। मनुष्य का मन बानर की तरह बहुत अधिक चंचल होता है ॥ २ ॥

यह देखी हुई बात है कि मनुष्य की सारी मुसीबत की जड़ में उसका शरारती मन ही है। क्योंकि यह ऐसा ही है, इसीलिए साधारण लोगों को बड़ी-से-बड़ी विपत्ति में फंसना पड़ता है ॥ ३ ॥

क्योंकि गहरी नींद में मन की शोखी नहीं रहती, अतः सुख महसूस होता है। अतः जो कुछ मैं आपसे कहती हूँ उसे पक्का इरादा के साथ ही सुनें ॥ ४ ॥

जो बात अनमने ढंग से सुनी जाती है, वह सुनकर भी अनसुनी हो जाती है। तस्वीर के पेड़ में जैसे फल नहीं लगते ॥ ५ ॥

आधारहीन बरबाद करनेवाली दलील को छोड़कर जो व्यक्ति शास्त्रानुसारी तर्क का सहारा लेता है, वह तत्काल उसका सुखद फल पा सकता है ॥ ६ ॥

अतः व्यवस्थित तर्क का सहारा लेकर व्यक्ति को शीघ्र साधना में तत्पर हो

अनवस्थिततर्कन्तं विहायालोकय प्रिय ।
प्रवृत्तिमेतां जगतः श्रद्धया फलशालिनीम् ॥ ८ ॥
सुतर्कितेन कालेन कर्षकः क्ष्मां विकर्षति ।
श्रद्धयैव तथा रूप्यस्वर्णरत्नौषधादिकम् ॥ ९ ॥
व्यवस्यन्ति सुतर्केण त्यक्त्वा तर्कानवस्थितिम् ।
तस्मात् सुतर्कश्रद्धाभ्यां व्यवस्य श्रेय आत्मनः ॥ १० ॥
प्रयतेत साधनाय नहि तर्कानवस्थितेः ।
विरमेत् पौरुषाद् यत्नाच्छुङ्गानुगनरा इव ॥ ११ ॥
श्रद्धया पौरुषपरो न विहन्यते सर्वथा ।
दृढं पौरुषमाश्रित्य न प्राप्येत कथं फलम् ॥ १२ ॥
पौरुषात् कर्षका धान्यं वणिजो धनमेव च ।
राज्यलक्ष्मीं नृपा विप्रा विद्यां सर्वसुखाश्रयाम् ॥ १३ ॥
शूद्रा भृतिं सुधां देवास्तापसा लोकमुत्तमम् ।
प्रापुरन्येऽप्यभिमतं पौरुषेणैव कर्मणा ॥ १४ ॥
अनवस्थिततर्केणाश्रद्धेन पुरुषेण किम् ।
कदा किञ्चित् कथं प्राप्तं फलं वद विमृश्य तत् ॥ १५ ॥

जाना चाहिए। अच्छे तर्क से उत्पन्न श्रद्धा पाकर व्यक्ति इसी संसार में निहाल हो सकता है ॥ ७ ॥

प्रिय ! आप बेबुनियाद दलील पेश करना छोड़कर देखिए, सारी दुनिया का व्यवहार श्रद्धा होने पर ही फलदायक होता है ॥ ८ ॥

किसान काफी सोच-विचार के बाद निश्चित समय पर ही खेत जोतता है। बे-मतलब दलील छोड़कर लोग श्रद्धापूर्वक सोना, चांदी, रत्न एवं औषधियों का निश्चय करते हैं ॥ ९ ॥

अतः व्यवस्थित तर्क और श्रद्धा के सहारे अपना परम हित सोचकर साधना के लिए प्रयास करना चाहिए। तर्क की कोई सीमा नहीं है। अतः शृंग का अनुसरण करनेवाले लोगों की तरह अपना पुरुषार्थ नहीं खोना चाहिए ॥ १०—११ ॥

जो श्रद्धापूर्वक प्रयास में लगा रहता है, वह कभी असफल नहीं हो सकता है। पक्का पुरुषार्थ का सहारा लेने पर फिर फल कैसे नहीं मिल सकता है ? ॥ १२ ॥

अपने अन्तर्बल के सहारे ही किसान अनाज, व्यापारी धन-दौलत, राजे-महाराजे राजकीय शोभा और वैभव, ब्राह्मण समस्त सुख की आधार विद्या, शूद्र आजीविका, देवता अमृत और तापस उत्तम लोक पाते हैं। संसार में सबको अपने पुरुषार्थ से सम्पादित कर्म के अनुसार ही मनचाही वस्तु मिलती है ॥ १३—१४ ॥

आप ही खुद सोचकर बतलाइये कि निराधार तर्क से आज तक संसार में श्रद्धाहीन व्यक्ति को कभी कुछ मिला है ॥ १५ ॥

क्वचित् फलविसंवादात् सर्वत्राश्वासवर्जने ।
विजानीयाद्दैवहतं तं स्वात्मरिपुरूपिणम् ।। १६ ।।
अतः पौरुषमाश्रित्य श्रद्धासत्तर्कपोषितम् ।
श्रेयसां यन्मुख्यतमं साधन तत् समाश्रयेत् ।। १७ ।।
तत्र दृष्टसाधनानां वैचित्र्यञ्च पृथग्विधम् ।
तेषु यत् सर्वथा साध्यं साधयेत् तद्धि मुख्यकम् ।। १८ ।।
तत् सुतर्कानुभूतिभ्यां व्यवस्याशु समारभेत् ।
तत्ते सर्वं प्रवक्ष्यामि सावधानः शृणुष्व तत् ।। १९ ।।
श्रेयस्तद्धि विजानीयाद् यस्माद् भूयो न शोचति ।
शोकः सर्वत एव स्याद् दृश्यते सूक्ष्मया दृशा ।। २० ।।
यच्छोकैरनुसम्भिन्नं न तच्छ्रेयो हि सर्वथा ।
धनं पुत्रास्तथा दारा राज्यं कोशो बलं यशः ।। २१ ।।
विद्या बुद्धिर्दर्शनञ्च देहः सौन्दर्यसम्पदः ।
सर्वमेतदस्थिरत्वात् कालसर्पमुखस्थितम् ।। २२ ।।
शोकाङ्कुरमहाशक्तिबीजात्मकतया स्थितम् ।
कुत आत्यन्तिकश्रेयःसाधनत्वं समर्हति ।। २३ ।।

किसी भागमारे को कभी फल न मिलने पर यदि उसका विश्वास हर जगह उठ जाय तो उस अभागे को अपना दुश्मन अपने आपको समझना चाहिए ।। १६ ।।

इसलिए आदमी को अपने पुरुषार्थ का सहारा लेकर श्रद्धा और सही तर्क से संवर्द्धित कल्याण पाने का जो प्रमुख साधन हो उसी का सहारा लेना चाहिए ।। १७ ।।

जो साधन हमारी आँखों के सामने हैं, उनमें कई तरह की विचित्रताएँ हैं । उनमें से जिसके द्वारा हमारे लक्ष्य की प्राप्ति सुलभ हो उसे ही अपना प्रमुख साधन मानना चाहिए ।। १८ ।।

शास्त्रसम्मत तर्क और व्यक्तिगत अनुभव से इसका निर्णय कर उसे शीघ्र कार्यरूप में परिणत कर दें । कृपया आप सावधान होकर सुनें; मैं इसका रहस्य बतलाती हूँ ।। १९ ।।

श्रेय अर्थात् शुभद उसे ही समझना चाहिए जिसे पा लेने के बाद फिर किसी तरह का गम न रह जाय । यदि गहरी निगाह से देखें तो हर ओर गम-ही-गम नजर आयेगा और जहाँ गम है वहाँ बेहतरी की उम्मीद नहीं की जा सकती ।। २०½ ।।

दौलत, बेटे, औरत, राज, खजाना, ताकत, नेकनामी, इल्म, समझदारी, शकल-सूरत, सेहत और खूबसूरती—ये सभी डावाँडोल हैं, इसीलिए कालरूपी साँप का कलेवा बना है । गम के अँखुए में ताकतवर बीज की तरह मौजूद है । इनमें बहुत अधिक श्रेय की साधनता कैसे मानी जा सकती है ? ।। २१–२३ ।।

अतः परमकं श्रेय एतद्वै मुख्यतो भवेत् ।
एवं धनादिविषये यदादेयत्वविभ्रमः ॥ २४ ॥
मोहादेव समुद्भूतो मोहको हि महेश्वरः ।
यो हि सर्वजगत्कर्त्ता तस्मात् सर्वे हि मोहिताः ॥ २५ ॥
मोहयत्यल्पकोऽपीह विद्याभागसमाश्रयात् ।
कांश्चिदेव न सर्वान् स यस्माद्विद्या हि सा मिता ॥ २६ ॥
अल्पविद्यं मायिनश्चाप्यनुत्क्रान्ता जना यतः ।
महादेवं महामायं कः समुत्क्रान्तुमर्हति ॥ २७ ॥
यो हि लोकेऽल्पमायाश्च जानाति प्रतिविद्यया ।
स मोहान्निर्गतः स्वस्थ सुखमाप्नोत्यनश्वरम् ॥ २८ ॥
एवंविधापि विद्या तमनाश्रित्य तु मायिनम् ।
न लभ्या सर्वथा यावदप्रसाद्य तु सर्वथा ॥ २९ ॥
तस्मान्महामायिनं तमप्रसाद्य कथं भवेत् ।
महामोहस्य तरणं तस्मात्तं सर्वथाश्रयेत् ॥ ३० ॥
यस्तं प्रसादयेत् सम्यक् प्राप्य तस्य प्रसादतः ।
महाविद्यां स तन्मोहाद् ध्रुवमुत्क्रान्तिमेष्यति ॥ ३१ ॥

इसलिए बेहतर कल्याण का सबसे बड़ा साधन तो यही है। दुनिया में जहाँ तक धन-दौलत को फायदेमन्द समझने का धोखा है, वह तो मोह के कारण ही है और मोह तो महेश्वर की देन है, क्योंकि सारी दुनिया को बनाने वाले वही है। इसी से सबके सब मोह में डूबे हैं ॥ २४–२५ ॥

एक अदना बाजीगर अपने जादू के बल से कुछ लोगों को मोह में डाल देता है, पर सबको नहीं, क्योंकि उस बाजीगरी की भी एक हद होती है ॥ २६ ॥

फिर जब एक अदना जादूगर की जादूगरी का लोग पार नहीं पा सकते तो उस महामायावी महेश्वर की माया का पार कौन पा सकता है ? ॥ २७ ॥

इस दुनिया में इस बाजीगर के अदना जादू का काट जान लेता है, वह इसकी माया के प्रभाव से बच सकता है और उसे ही कभी खत्म न होने वाला सुख मिल सकता है ॥ २८ ॥

किन्तु यह हुनर भी तो बिना उस जादूगर का सहारा लिये या उसे बिना खुश किये नहीं पाया जा सकता ॥ २९ ॥

अतः उस महामायी महादेव को बिना खुश किये कोई इस महामोह से कैसे उबर सकता है। अतः हर तरह से पहले उन्हीं का सहारा लेना चाहिए ॥ ३० ॥

जो उन्हें अच्छी तरह खुश कर लेता है, उनके अनुग्रह से उसे सहज ही महाविद्या मिल जाती है और महाविद्या की कृपा से निश्चय ही वह मोहसागर को पार कर जाता है ॥ ३१ ॥

अन्येऽपि योगाः कथिताः श्रेयःसाधनकर्मणि ।
महेश्वरप्रसादात्ते विना न स्युः फलाप्तये ॥ ३२ ॥
तस्मादाराधयेदादौ महेशं विश्वकारणम् ।
भक्त्या स साधयेदाशु योगान्मोहविनाशनान् ॥ ३३ ॥
एतज्जगत् कार्यभूतं प्रत्यक्षं परिदृश्यते ।
सांशमेवं पृथिव्याद्यमदृष्टारम्भमप्यलम् ॥ ३४ ॥
कार्यं स्यादिति तर्केण बह्वागमदृढेन तु ।
व्यवस्येत्तत्र कर्त्तारं सर्वकर्त्तृविलक्षणम् ॥ ३५ ॥
यद्यप्यकर्त्तृकं लोकमाह कश्चिदिहागमः ।
तदनेकैरागमैस्तु तर्करूढैः सुबाधितम् ॥ ३६ ॥
यत्रात्मनाश एवार्थः प्रत्यक्षैकसमाश्रयात् ।
तदागमाभासमेव न तद्धि महदाश्रयम् ॥ ३७ ॥
शुष्कतर्कैकसङ्क्लृप्तं शास्त्रं तत्त्याज्यमेव हि ।
अन्यैरप्युच्यते कैश्चिज्जगदेतत् सनातनम् ॥ ३८ ॥

विशेष—तन्त्रशास्त्र में महाविद्या के नाम से ये दस देवियाँ प्रसिद्ध हैं—काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगलामुखी, मातंगी और कमलात्मिका ।

श्रेय अर्थात् बेहतर कल्याण पाने के लिए योगशास्त्र में अनेक उपाय बतलाये गये हैं, किन्तु महेश्वर के अनुग्रह के बिना ये उपाय भी फलदायक नहीं हो सकते हैं ॥३२॥

इसके लिए सबसे पहले संसार के मूल कारण रूप महादेव की आराधना भक्ति-पूर्वक करनी चाहिए । वे अतिशीघ्र मोहविनाशक योग को सफल बना देते हैं ॥ ३३ ॥

यह सारी दुनिया किसी की रचना है, यह तो साफ दिखलाई देता है । पर किसी ने इसकी उत्पत्ति देखी नहीं, फिर भी सावयव होने के कारण इसके अस्तित्व का बोध तो होता ही है ॥ ३४ ॥

इस तरह अनेक तर्कों एवं शास्त्रवचनों से निश्चय करना चाहिए कि यह संसार किसी की रचना है और यह निर्माता अन्य कर्त्ताओं से कुछ विलक्षण अवश्य है ॥३५॥

यद्यपि कई शास्त्र (चार्वाक प्रभृति के नास्तिक दर्शन) इस संसार को स्वयं सम्भूत, न कि किसी के द्वारा निर्मित मानते हैं । फिर भी युक्तिप्रधान अनेक शास्त्र-वाक्यों से नास्तिष्क दर्शन का कथन असंगत प्रतीत होता है ॥ ३६ ॥

नास्तिक दर्शन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर ही मौत को ही मुक्ति मानते हैं, अतः ये दर्शन नहीं, दर्शन की छायामात्र हैं । श्रेष्ठजन इसे कभी पनाह नहीं देते । निराधार तर्क द्वारा ऐसा कल्पित शास्त्र सर्वथा त्याज्य है ॥ ३७½ ॥

कुछ दार्शनिकों की मान्यता है कि यह संसार सदा से ऐसा ही है । यह ईश्वर जैसे किसी चैतन्य की रचना नहीं है । यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि किसी भी

अबुद्धिमत्कर्तृकं चेत्येतच्चाप्यसमञ्जसम् ।
क्रियाया बुद्धिपूर्वत्वादबुद्धौ तददर्शनात् ॥ ३९ ॥
बह्वागमोपष्टम्भाच्च कर्तात्र स्याद्धि बुद्धिमान् ।
बुद्धिमत्कर्तृकं कार्यं सर्वत्रैव हि दर्शनात् ॥ ४० ॥
एवं सत्तर्कागमाभ्यां जगदेतत् सकर्तृकम् ।
स कर्ता लौकिकेभ्यस्तु कर्तृभ्यः स्याद्विलक्षणः ॥ ४१ ॥
कार्यस्याचिन्त्यरूपत्वादचिन्त्यानन्तशक्तिकः ।
अपरिच्छिन्नसामर्थ्यः कार्यस्यानुगुणत्वतः ॥ ४२ ॥
स प्रपन्नान् समुद्धर्तुं प्रभवत्येव सर्वथा ।
अतस्त्वं सर्वभावेन शरणीकुरु सर्वदा ॥ ४३ ॥
निदर्शनं तेऽभिधास्ये शृणु प्रत्ययकारणम् ।
मितेश्वरोऽप्यत्र लोके चाकापट्यात् प्रसादितः ॥ ४४ ॥
सर्वात्मना योजयति स्वेष्टार्थैः श्रेयसे नरम् ।
एष लोकेश्वरो देवः सम्यग् येन प्रसादितः ॥ ४५ ॥
तस्मै किं न दिशेद् ब्रूहि भक्तलोकैकवत्सलः ।
पुरुषा हीश्वरा लोके चानवस्था अवत्सलाः ॥ ४६ ॥

काम को बुद्धि से ही किया जा सकता है। बुद्धि के बिना तो कोई क्रिया नहीं हो सकती ॥ ३८–३९ ॥

अनेक शास्त्रों के विचार से तथा लोगों के आचार से भी प्रमाणित होता है कि किसी काम का सम्पादन कोई बुद्धिमान् ही करता है। बुद्धि के बिना किसी भी क्रिया का सम्पादन नहीं हो पाता ॥ ४० ॥

इस तरह युक्तिपूर्ण तर्कों से, अनेक शास्त्रों से यह सिद्ध होता है कि यह सृष्टि निश्चय ही किसी स्रष्टा की रचना है, जो समस्त लौकिक कर्त्ताओं से विलक्षण है ॥ ४१ ॥

अखिल ब्रह्माण्ड की बनावट बेअन्दाज है। इसका बनानेवाला बेमिसाल है, वह बेहद ताकतवर है। इसकी बेहिसाब ताकत का कोई ओर-छोर नहीं है ॥ ४२ ॥

जो उन पर भरोसा रखता है, उसे पनाह देने में वे बिलकुल समर्थ हैं। अतः आप हमेशा पूरे मन से उनसे पनाह माँगें ॥ ४३ ॥

आपको विश्वास दिलाने के लिए मैं एक उदाहरण देती हूँ। किसी हद तक एक छोटा-मोटा जागीरदार भी जब अपने नौकर की सच्ची खिदमत से खुश होता है तो उसकी हर ख्वाहिश पूरी करने की कोशिश करता है ॥ ४४½ ॥

परमात्मा तो समस्त भुवनों के स्वामी हैं। वे भक्तवत्सल हैं। फिर अपनी वफादारी से जो इन्हें खुश कर ले, उसे ये क्या नहीं दे सकते ? आप ही बतलायें ॥ ४५½ ॥

निर्दयाश्च कृतघ्नाश्च तस्मात् तत् फलमस्थिरम् ।
परमेशो दयासिन्धुः कृतिज्ञः सुव्यवस्थितः ॥ ४७ ॥
अन्यथानादिसंसारे कुतोऽनिन्द्यत्वमाप्नुयात् ।
व्यवस्थिता जगद्धात्रा चापि वा स्यात् कथं वद ॥ ४८ ॥
अनवस्थस्य राज्यन्तु नष्टमालोक्यते यतः ।
तस्मादेव दयासिन्धुः सुव्यवस्थश्च कीर्त्तितः ॥ ४९ ॥
तमेव सर्वभावेन भक्त्याशु शरणीकुरु ।
श्रेयसि त्वां योजयेत् स त्वं न तत्परतां व्रज ॥ ५० ॥
उपासने बहुविधमार्त्यार्थार्थित्वतोऽपि च ।
निर्हेतुकन्तु क्वाचित्कं तत् सत्योपासनं भवेत् ॥ ५१ ॥
दृष्टमेतत् सर्वतो वै चार्त्तेनोपासितः प्रभुः ।
कदाचिद् दययाविष्ट आर्त्ति तस्य विमोचयेत् ॥ ५२ ॥
उपेक्षेत कदाचिद्वोपास्तेर्वै तारतम्यतः ।
एवमेवार्थार्थिनोऽपि मितश्चानियतं फलम् ॥ ५३ ॥

दुनिया के धनीमानी लोग तो बेभरोसेमन्द, बेमुरौवत, पत्थरदिल और बे-एहसानमन्द होते हैं। अतः उनकी खुशी का फल टिकाऊ नहीं होता, किन्तु भगवान् तो दया के सागर हैं, नेकी को माननेवाले हैं। सब कुछ ठीक ढंग से निभानेवाले हैं ॥ ४६–४७ ॥

आप ही बतलाइए, यदि ऐसा न होता तो सब दिन से रहनेवाली इस दुनिया में लोग उसकी शिकायत क्यों नहीं करते ? उस स्रष्टा का सृष्टिविधान नियमित कैसे रहता ? ॥ ४८ ॥

क्योंकि यह देखा जाता है कि जिसका इन्तजाम ठीक नहीं रहता, उसका राज चौपट हो जाता है। अतः परमात्मा रहमदिल हैं और कायदे से काम करनेवाले हैं ॥ ४९ ॥

अतः सच्चे दिल से उनसे पनाह माँगिए। वे निश्चय ही आपको श्रेय पाने की राह दिखा देंगे। आपको इसके लिए साधन ढूँढने के पचड़े में पड़ने की जरूरत नहीं है ॥ ५० ॥

आराधना में कातरता या कष्ट और किसी खाश मतलब से सम्बन्ध रखनेवाले तथ्य के उद्देश्य से भी अनेक भेद हैं। प्रयत्नों के फल का मोह छोड़कर की गई आराधना तो विरलों की होती है, फिर भी यदि उपासना सच्ची आराधना है ॥ ५१ ॥

हर जगह प्रायः ऐसा ही देखा जाता है कि लोग विपद्ग्रस्त होकर ही भगवद्भजन करते हैं। कभी-न-कभी दयालु परमात्मा दयावश उसकी पीड़ा हर लेते हैं ॥ ५२ ॥

और आराधना में कमी रहने पर कभी उपेक्षा भी कर देते हैं। इसी प्रकार

निर्हेतुकोपासनस्य ज्ञात्वा निर्हेतुतां चिरात् ।
मितेश्वरोऽप्यव्यवस्थस्तदधीनो भवत्यलम् ॥ ५४ ॥
निर्हेतुकत्वज्ञानाय चिरं स्यादज्ञभावतः ।
एष सर्वेश्वरो देवो हृदयेशोऽखिलस्य तु ॥ ५५ ॥
सर्वं जानाति तत्काले फलं दद्याच्च सत्वरम् ।
आर्त्तमर्थार्थिनं देवस्तदर्थेनाभियोजितुम् ॥ ५६ ॥
स्वनियत्या कर्मपाकं प्रतीक्ष्य फलमादिशेत् ।
निर्हेतुकोपासकं स्वमनन्यशरणं विभुः ॥ ५७ ॥
ज्ञात्वा सर्वात्मना तस्य योगक्षेमवहो भवेत् ।
अप्रतीक्ष्यं कर्मपाकं नियतिं स्वां विधूय च ॥ ५८ ॥
तत्साधनं सम्प्रसाध्य द्रुतं संयोजयेत् फले ।
एतदेव महेशत्वं स्वातन्त्र्यमहत्वन्तु यत् ॥ ५९ ॥

[illegible]जन आराधकों को मिलनेवाला फल भी सीमित और अनिश्चित ही होता [illegible] ॥ ५३ ॥

[illegible]न्तु कामनारहित जिसकी आराधना होती है, कालान्तर में जब उसकी इस [illegible] आराधना का पता चलता है तो संसार की सीमित सम्पत्ति के अनवस्थित [illegible] स्वतः इनकी अधीनता कबूल कर लेते हैं ॥ ५४ ॥

[illegible] भगवान् सबके मालिक हैं, सबके दिल में समान रूप में मौजूद हैं; फिर [illegible] अपनी अज्ञानता के कारण कामनारहित आराधक को पहचानने में उसे देर [illegible] है ॥ ५५ ॥

[illegible]सी समय भगवान् सब कुछ जान लेते हैं और निष्काम आराधक को उसका [illegible] उसी पल दे डालते हैं । किन्तु कातर और याचक को अपने अदृष्ट के अनुसार [illegible] पूर्णता के पश्चात् ही फल देते हैं ॥ ५६–५७½ ॥

[illegible] एकमात्र अपना शरणागत तथा कामनारहित अपना आराधक भगवान् [illegible], उसके जीवन के सम्पूर्ण दायित्व का निर्वाह स्वयं करते हैं ॥ ५७–५८½ ॥

[illegible]शेष —'योगक्षेम' का सामान्यतः कोषगत अर्थ होता है — १. नया पदार्थ प्राप्त [illegible] और मिले हुए पदार्थ की रक्षा करना । २. जीवन-निर्वाह, कुशल-मंगल, राष्ट्र [illegible] प्रभृति; किन्तु यहाँ इस शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ-सापेक्ष्य है । यहाँ [illegible] अर्थ है — साधन के अनुकूल परिस्थिति की प्राप्ति और क्षेम का अर्थ है — [illegible] साधन में समागत विघ्नों से उसका बचाव ।

[illegible]मात्मा ऐसे साधक की आराधना की परिपक्वता या जन्मार्जित कर्मफल की [illegible] किये बिना, अदृष्ट की उपेक्षा कर उसके साधनों को जुटाकर शीघ्र ही उसे [illegible] का फल दे देते हैं । यही उनकी प्रभुता एवं आजादी है ॥ ५८–५९ ॥

प्रारब्धं नियतिर्वापि महेशविमुखं भवेत् ।
एतन्मृकण्डुतनयेऽत्यन्तमीश्वरतत्परे ॥ ६० ॥
सर्वैर्ज्ञातं महेशस्य नियत्यारब्धलङ्घनम् ।
अत्रोपपत्तिस्ते वक्ष्ये शृणु प्राणप्रियेरितम् ॥ ६१ ॥
यद्यप्यनुल्लङ्घनीये प्रारब्धनियती खलु ।
तथाप्यपौरुषाणां तत् प्रारब्धमनपोहनम् ॥ ६२ ॥
अत एव प्राणायामैः प्रारब्धं परिजीयते ।
न तान् दृष्टेषु दुःखेषु प्रारब्धं योजयत्यलम् ॥ ६३ ॥
प्रारब्धाहिनिगीर्णास्ते ये पौरुषपराङ्मुखः ।
एतन्नियति-सङ्क्लृप्तं तथैवानुभवान्ननु ॥ ६४ ॥
नियतिः स्यादीशशक्तिः सङ्कल्पैकस्वरूपिणी ।
सत्यसङ्कल्प एवेशोऽनुल्लङ्घ्या ह्यत एव सा ॥ ६५ ॥
कुण्ठिता सापि भवति परमेशपरायणे ।
अकुण्ठितापि भवति यतः सा तादृशी भवेत् ॥ ६६ ॥
तस्मात् कुतर्कं सन्त्यज्य महेशं शरणीकुरु ।
अहेतुकतया स त्वां नियोजयति श्रेयसि ॥ ६७ ॥

किस्मत और बंधेज अर्थात् पूर्वकृत कर्म का निश्चित परिणाम तो परमात्मा से मुँह फेरनेवालों के लिए ही है । भगवान् में बिलकुल तल्लीन रहनेवाले मुनि मार्कण्डेय के लिए महेश्वर ने भाग्य और कृतकर्म के फल को काट डाला है— इसे कौन नहीं जानता ? प्रियतम ! सुनिए मैं इसकी युक्ति भी बतलाती हूँ ॥ ६०–६१ ॥

यद्यपि किस्मत और तकदीर की काट निश्चय ही सम्भव नहीं है; फिर भी यह किस्मत का अतिक्रमण पुरुषार्थहीन लोगों के लिए ही है ॥ ६२ ॥

इसी से प्राणायाम अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति पर नियंत्रण रखकर किस्मत पर भी फतह पायी जा सकती है । ऐसे योगियों को तकदीर सांसारिक दुःख में नहीं फँसा सकता है ॥ ६३ ॥

पौरुषविहीन लोगों को ही भाग्यरूपी नाग डँसता है । यही नियति का निश्चय है और अनुभव से भी यही सिद्ध होता है ॥ ६४ ॥

नियति अर्थात् तकदीर उस परमात्मा की ताकत है जिसका स्वरूप केवल संकल्प है । परमात्मा सत्यसंकल्प हैं, अतः नियति की काट नहीं हो सकती है ॥ ६५ ॥

प्रभुपरायण पुरुषों के लिए वह मंद हो जाती है । किन्तु इससे भिन्न लोगों के लिए अकुण्ठित और कुण्ठित का भेद नहीं रह जाता है ॥ ६६ ॥

इसलिए बुरा तर्क छोड़कर परमात्मा की शरण में जाइए । निष्काम भाव से पनाह माँगिए । वे आपको परम कल्याण प्राप्त करा देंगे ॥ ६७ ॥

एतावदेव सोपानं प्रथमं क्षेमसौधकम् ।
एतद्विहाय चान्यत्र नास्तीषत्फलसम्भवः ॥ ६८ ॥
श्रुत्वेत्थं वचनं राम हेमचूडः प्रियोदितम् ।
पप्रच्छ भूयस्तां कान्तामतिहृष्टमनास्तदा ॥ ६९ ॥
प्रिये महेश्वरं ब्रूहि यः शरण्यो भवेन्मम ।
सर्वकर्त्ता स्वतन्त्रात्मा यच्छक्त्या नियतं जगत् ॥ ७० ॥
तं विष्णुमाहुः केचिद्वै केचिच्छिवगणेश्वरम् ।
तथा सूर्यं नृसिंहादीन् बुद्धं सुगतमेव च ॥ ७१ ॥
अर्हन्तं वासुदेवञ्च प्राणं सोमञ्च पावकम् ।
कर्म प्रधानमणव इत्यादि बहुधा जगुः ॥ ७२ ॥
जगत्कारणरूपं वै विचित्रमतभेदितम् ।
तत्र क्वेश्वरबुद्धिस्तु कर्त्तव्या तत् समीरय ॥ ७३ ॥
न ते ह्यविदितं किञ्चिद् भवेदिति हि निश्चयः ।
यतः स भगवान् व्याघ्रपादो दृष्टपरावरः ॥ ७४ ॥
अतस्ते योषितोऽप्येवं ज्ञानमेतद्विराजते ।
ब्रूहि मे श्रद्दधानाय प्रियामृतप्रभाषिणी ॥ ७५ ॥

परम कल्याण के प्रासाद पर चढ़ने के लिए यही पहली सीढ़ी है । इसे छोड़कर [illegible] दूसरे साधन से थोड़ा भी फल प्राप्त नहीं हो सकता है ॥ ६८ ॥

हे परशुराम ! अपनी पत्नी की बात सुनकर हेमचूड़ ने काफी सन्तुष्ट होकर [illegible] फिर पूछा ॥ ६९ ॥

प्रिये ! सबसे पहले मुझे उस महेश्वर का स्वरूप बतलाओ, जिनकी शरण में मैं [illegible] सब कुछ करनेवाले हैं, परम स्वतन्त्र हैं । उनकी शक्ति से ही यह संसार [illegible] है ॥ ७० ॥

उन्हें कोई विष्णु, कोई शिव या गणपति कहते हैं तथा कोई सूर्य, नरसिंह, [illegible] सुगत, अर्हत्, बासुदेव, प्राण, सोम, अग्नि, कर्म, प्रधान या अणु प्रभृति [illegible] ॥ ७१–७२ ॥

इस तरह विराट् विश्व के हेतुभूत परमात्मा के स्वरूप तरह-तरह के सम्प्रदाय [illegible] भिन्नता के कारण अनेक तरह के हो गये हैं । ऐसी स्थिति में किसे परमात्मा [illegible] जाय, यह मुझे समझा दो ॥ ७३ ॥

भगवान् व्याघ्रपाद लोक-परलोक और परमात्मा सबके बारे में सब कुछ जानते [illegible] उनकी पालित पुत्री होने के नाते तुम्हें भी इस सन्दर्भ में सब कुछ मालूम है — [illegible] निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ ॥ ७४ ॥

यही कारण है कि नारी होने के बावजूद इस सम्बन्ध में तुम्हारी आँखें इतनी

पृष्टैवं सा हेमलेखा प्रियेण प्राह हर्षिता ।
नाथ ते सम्प्रवक्ष्यामि शृण्वीश्वरविनिर्णयम् ॥ ७६ ॥
ईश्वरो हि जगज्जालप्रलयोत्पादकृद् भवेत् ।
स विष्णुः स शिवो धाता स सूर्यः सोम एव च ॥ ७७ ॥
स एव सर्वथा सर्वः सर्वैरपि निरूपितः ।
न शिवो नापि विष्णुर्वा न धाता नान्य एव च ॥ ७८ ॥
एतत्ते सम्प्रवक्ष्यामि शृणवत्यन्तसमाहितः ।
कर्त्तारं शिवमाहुस्ते पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम् ॥ ७९ ॥
स कर्त्ता घटकर्त्तेव चेतनः सशरीरकः ।
लोकेऽपि चेतनः कर्त्ता सशरीरो हि दृश्यते ॥ ८० ॥
अशरीरोऽचेतनो वा न कर्त्ता क्वचिदीक्षितः ।
तत्र मुख्यं हि कर्त्तृत्वं चेतनस्यैव सम्भवेत् ॥ ८१ ॥
यतः स्वप्नेष्वयं जीवो हित्वा स्थूलं शरीरकम् ।
चैतन्यमयदेहेन सर्वानभिमतान् सृजेत् ॥ ८२ ॥

साफ हैं । तुम अमृत की तरह मीठी, मनोहर और हितकर बातें करती हो । मैं तुम्हारे प्रति श्रद्धावनत हूँ । मुझे सारा रहस्य समझा दो ॥ ७५ ॥

प्रिय पति के इस तरह पूछने पर खुश होकर हेमलेखा ने कहा — स्वामी ! सुनिए, ईश्वर के सम्बन्ध में मैं अपना विचार सुनाती हूँ ॥ ७६ ॥

इस फरेबी दुनिया के हर रूप को मूल प्रकृति में लीन कर जो मिटाता और बनाता है, वह ईश्वर है । वही शिव, वही ब्रह्मा, वही सूर्य और चन्द्रमा भी है ॥७७॥

सब तरह से वही सब कुछ है । सब रूपों में उसी का विवेचन किया गया है । किन्तु वास्तव में वह न तो शिव है, न विष्णु ही, न ब्रह्मा है और न कुछ अन्य ॥७८॥

इस मर्म को मैं साफ-साफ समझाती हूँ, आप बिलकुल सावधान होकर सुनिए । शैव लोग पाँच मुँह तथा तीन आँख वाले शिव को ही संसार की रचना करने वाले मानते हैं ॥ ७९ ॥

घड़े बनाने वाले कुम्हार की तरह दुनिया बनाने वाला भी जीवधारी और देहधारी है । क्योंकि इस दुनिया में भी हम देखते हैं कि जिन्दा देहधारी ही कुछ काम करता है ॥ ८० ॥

कहीं भी किसी को बिना देह और बिना जीवन के कुछ करते नहीं देखा गया है । खासकर इनमें भी काम करने की सामर्थ्य मुख्यतः जीवधारी में ही रहना अधिक संभव है ॥ ८१ ॥

क्योंकि सपने में यह प्राणी स्थूल देह छोड़कर अपनी चिन्मय आत्मा से ही समस्त मनचाही बातों को पा लेता है ॥ ८२ ॥

अतः शरीरं करणं कार्ये कर्त्तुश्चिदात्मनः ।
जीवानां करणापेक्षा यतोऽपूर्णा स्वतन्त्रता ॥ ८३ ॥
भगवांस्तु जगत्कर्त्ता पूर्णस्वातन्त्र्ययोगतः ।
अनपेक्ष्यैव यत्किञ्चित् सृजत्यविकलं जगत् ॥ ८४ ॥
अतः शरीरं नास्त्येव ह्येष मुख्यविनिश्चयः ।
अन्यथा लोकवत्कर्त्तुरुपादानाश्रयो भवेत् ॥ ८५ ॥
तथा च देशकालादिकारणप्रचयैर्युतः ।
जगत् सृजन्महेशानो जीव एव भवेत्तथा ॥ ८६ ॥
पूर्णैश्वर्यं विहन्येत जगत्सृष्टेः पुरापि च ।
सिद्धचेत् तत्सर्वकर्तृत्वं विहतं स्यान्न संशयः ॥ ८७ ॥

अतः किसी काम को करने में यह देह चिन्मय आत्मा का हथियार है, किन्तु किसी औजार की जरूरत तो प्राणी को ही होती है, क्योंकि उसे कुछ करने की पूरी आजादी नहीं होती है ॥ ८३ ॥

भगवान् तो अपनी पूरी आजादी की वजह से कारण-जगत् के कर्त्ता हैं। वे किसी दूसरे की अपेक्षा किये बिना जैसा चाहते हैं वैसी रचना कर डालते हैं ॥ ८४ ॥

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि परमात्मा देह नहीं है। अतः सांसारिक जीवों की तरह उसे भी लोकरचना के लिए किसी-न-किसी औजार का सहारा लेना पड़ता है ॥ ८५ ॥

और इस तरह देश-कालादि करण-समूह मिलकर संसार की रचना करने पर तो वह महेश्वर भी एक जीव ही हो जाता ॥ ८६ ॥

यदि सृष्टि से पूर्व किसी अन्य वस्तु की सत्ता स्वीकार की जाय तो ईश्वर की पूरी ऐश्वरता समाप्त हो जायेगी और असंदिग्ध रूप से उनका सर्वकर्त्तृत्व समाप्त हो जायेगा ॥ ८७ ॥

विशेष—ईश्वर सर्वशक्तिमान् हैं। उनका सृष्टिकर्त्तृत्व अबाध है। उनसे पूर्व किसी परमाणु अणु की सत्ता स्वीकार्य नहीं है। सृष्टि से पूर्व परमाणु या प्रकृति का अस्तित्व स्वीकार कर ईश्वर की अद्वितीयता, विभुता और सर्वशक्तिमत्ता को ठुकराना है। उनका जगत्कर्तृत्व पूर्ण प्रभुसत्ता युक्त है। उनसे पूर्व किसी वस्तु की सत्ता किसी भी स्थिति में स्वीकार्य नहीं है।

'क्लेशकर्मविपाकाशयपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'। (पात० यो० २४ पृ० ६८) क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अपरामृष्ट पुरुष-विशेष ही ईश्वर हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि पुरुष-विशेष शब्दान्तर्गत पुरुष का अर्थ पुरुषतत्त्व नहीं है। यदि ईश्वर असंहत पुरुषतत्त्व मात्र होते तो यहाँ विशेष कहना व्यर्थ होता। अनादि-मुक्तचित्त तथा चित्तद्रव्य पुरुष—इन दोनों के समष्टिभूत पदार्थ का नाम ईश्वर है। ईश्वर प्रधान पुरुष के अधिष्ठाता हैं। सांख्ययोगमत के अनुसार प्रधान, पुरुष एवं

अतो हि दृश्यदेहाद्यमनपेक्ष्य जगत् सृजेत् ।
नास्ति तस्मात् स्थूलदेहो वस्तुतः प्राणवल्लभ ॥ ८८ ॥
पररूपे ह्यदेहेऽस्मिन् मुह्यन्ति स्थूलबुद्धयः ।
भक्तियुक्ताश्च तैर्ध्यातो यत्र यत्र यथा यथा ॥ ८९ ॥
तथा धत्तेऽनेकरूपं भक्तचिन्तामणिः स्वयम् ।
अतश्चेतन एतेन तद्देहः स्याच्चितिः परा ॥ ९० ॥

ईश्वर परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। सांख्ययोगमत १।२३–२९ सूत्रों की व्याख्या में ईश्वर के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उससे उपर्युक्त मत की अशास्त्रीयता सिद्ध होती है।

वैशेषिक मतावलम्बी परमाणुओं की नित्य सत्ता स्वीकार करते हैं और ऐसा मानते हैं कि ईश्वर की इच्छा से वे नित्य परमाणु ही मिलकर जगत् की रचना कर देते हैं। किन्तु किसी की इच्छा से कार्य करने के लिए प्रवृत्त होना जड़ परमाणुओं के लिए संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में परमेश्वर के असीम सामर्थ्य का प्रभाव इसे मान ले तो भी प्रश्न यह उठता है कि अलौकिक सामर्थ्य से भी तो उन परमाणुओं की उपेक्षा कर भी सृष्टि-संरचना कर ही सकते हैं। ऐसी स्थिति में भी परमाणुओं की नित्य सत्ता मानकर उनकी अद्वितीयता और विभुता को फिर बाधित क्यों किया जाय ? इसी प्रकार सांख्योक्त प्रकृति और मीमांसासम्मत कर्म भी मानवीय नहीं है। यदि कहें कि सृष्टि को कर्म-निरपेक्ष मानने पर तो जीवों के विभिन्न भोगों के कारण ईश्वर में विषमता और निर्दयता का दोष आयेगा, तो इस विषय में यह समझना चाहिए कि दर्पण में प्रतीत होने वाले प्रतिबिम्ब के समान जिस प्रकार समस्त जगत् आभास मात्र है, उसी प्रकार ये कर्मादि भी केवल आभास मात्र ही हैं। इनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वस्तुतः तो वे भी चिदेकरसस्वरूप होने के कारण ईश्वर से अभिन्न ही हैं।

बुद्ध ने कहा था—'खोया बहुत कुछ, पाया कुछ भी नहीं। वासना खोई, विचार खोये, सब भाँति की दौड़ और तृष्णा खोई और पाया वह जो सदा से पाया हुआ है। मनुष्य जिसे नहीं खो सकता है, वही तो है स्वरूप। मनुष्य चाहकर भी जिसे नहीं खो सकता वही है परमात्मा।' अतः परम पिता की सर्वोत्कृष्टता, सर्वशक्तिमत्ता और जगत्कर्तृत्व स्वतः सिद्ध है। सांसारिक प्रपंच खोते ही यह सत्य स्वतः उपलब्ध हो जाता है।

अतः मेरे प्रियतम ! भगवान् देह जैसी वस्तु जो देखने में आ सके उसका खयाल किये बिना ही दुनिया बना डालते हैं। अतः उनका कोई स्थूल शरीर नहीं है ॥ ८८ ॥

किन्तु मोटी बुद्धि वाले सामान्य लोगों की भगवान् का रूप स्थूल देह को छोड़ कर भी कुछ हो सकता है—समझ में नहीं आती। अतः भक्तिपूर्वक जिसने उनका जैसा ध्यान किया, उसी तरह वे वैसा ही रूप धारण कर लेते हैं। क्योंकि वे स्वयं भक्तों के लिए चिन्तामणि अर्थात् एक कल्पित रत्न, जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि

चितिरेव महासत्ता सम्राज्ञी परमेश्वरी ।
त्रिपुरा भासते यस्यामविभिन्ना विभिन्नवत् ॥ ९१ ॥
आदर्शनगरप्रख्यं जगदेतच्चराचरम् ।
तद्रूपैकत्वतस्तत्र नोत्तमाधमभावना ॥ ९२ ॥
अपरे तु स्वरूपे हि कल्पितं मुख्यतादि हि ।
तस्मात् प्राज्ञ उपासीत परं रूपं हि निष्कलम् ॥ ९३ ॥
असमर्थः स्थूलरूपं यद् बुद्धौ सङ्गतं दृढम् ।
तदुपास्या हेतुतस्तु श्रेयः प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ९४ ॥
नान्यथास्य गतिः क्वापि भवेद्वै कोटिजन्मभिः ॥ ९५ ॥

इति श्रीमज्ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने ईश्वरस्वरूप-
निरूपणं सप्तमोऽध्यायः ।

...जो अभिलाषा की जाय, वह पूर्ण कर देता है—के समान हैं। अन्यथा परम ...त्य, चितिरूप आत्मा ही उनकी देह है ॥ ८९-९० ॥

और वह चितिरूपा महासत्ता ही भगवती त्रिपुरा हैं। जिसमें यह संसार उससे ...बद्ध होकर भी असम्बद्ध की तरह दीख पड़ता है ॥ ९१ ॥

यह जड़ और चेतन संसार आईने में दीखने वाले नगर की तरह हैं। वह आईने ...में दीखने वाले चेतन भिन्न होकर भी एकरूप ही हैं। अतः उनमें उत्तम, अधम आदि भाव नहीं करना चाहिए ॥ ९२ ॥

(यदि यह कहें कि शास्त्रों में भी तो इनकी मुख्यता और गौणता का विवेचन किया गया है, तो उसका उत्तर यह है कि) ये मुख्यता प्रभृति भगवान् के इस अपर अर्थात् पूर्वरूप में ही कल्पित है। अतः विवेकी पुरुषों को तो उनके कलातीत स्वरूप की ही उपासना करनी चाहिए ॥ ९३ ॥

जो व्यक्ति ऐसी उपासना करने में समर्थ नहीं है, वह उन स्थूल रूपों में से किसी एक की उपासना करे, जिस रूप के प्रति उसकी दृढ़ आस्था हो; पर यह आराधना कामना रहित ही होनी चाहिए। इस आराधना से भी वह परम निःश्रेयस् पा सकता है। इसके सिवा करोड़ों जन्मों में भी इस कल्याण को पाने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है ॥ ९४-९५ ॥

सप्तम अध्याय समाप्त ।

अष्टमोऽध्यायः

एवं प्रियावचः श्रुत्वा ज्ञात्वा तत्त्वं महेशितुः ।
त्रैपुरं चिन्मयं हेमलेखावाक्येन निश्चितम् ॥ १ ॥
आश्वस्तचित्तस्त्रिपुरां गुणरूपां महेश्वरीम् ।
ज्ञात्वा गुरुभ्यः परमां माहेश्वर्यविभावितः ॥ २ ॥
तामेकभावानुगतो हेमचूडोऽभवद् दृढम् ।
एवं परोपासनेन व्यतीयुः केऽपि मासकाः ॥ ३ ॥
त्रिपुरा परमेशानी प्रसादमकरोद्धृदि ।
विषयाद्विमुखं चित्तं विचारपरमं बभौ ॥ ४ ॥
एतावद् दुर्लभं लोके परानुग्रहमन्तरा ।
विचारप्रवणं चित्तं यन्मुख्यं मोक्षकारणम् ॥ ५ ॥
राम यावन्न जायेत विचारपरमं मनः ।
न तावच्छ्रेयसा योग उपायानां शतैः क्वचित् ॥ ६ ॥
अथ भूयः स कस्मिंश्चिद्दिने रहसि वै तया ।
सङ्गतः प्रिययाऽत्यन्तविचारपरमानसः ॥ ७ ॥
आयान्तं स्वनिकेतं तं दूरात् कान्तं ददर्श सा ।
उत्थाय तं समानीय स्वासने विनिवेश्य च ॥ ८ ॥

आख्यायिका का स्पष्टीकरण

इस तरह अपनी पत्नी हेमलेखा की बातें सुनकर, परमात्मा के चिन्मय त्रिपुरा के रूप को जानकर हेमचूड़ का चित्त शान्त हो गया। फिर गुरुओं से उसने परम महेश्वरी भगवती त्रिपुरा के सगुण रूप को जाना और उस परमेश्वरी की अनुग्रह-शक्ति से सम्पन्न हो वह एकमात्र उसी के ध्यान में दृढता से तत्पर हो गया ॥ १–२ ॥

इस तरह उस पराशक्ति की आराधना में उसने कई महीने बिता दिये। तब कहीं भगवती त्रिपुरा ने उसके दिल में अपनी दया का संचार किया। इससे उसका कामोपभोग की ओर लगा उसका मन विचारपरायण हो गया ॥ ३–४ ॥

उस पराशक्ति की कृपा के बिना दुनिया में ऐसा होना दुर्लभ ही है। क्योंकि संसार से मुक्ति का प्रमुख कारण विचारोन्मुख मन ही तो है ॥ ५ ॥

हे पराशुराम ! मनुष्य का मन जब तक विचारपरक नहीं होता तब तक सैकड़ों उपायों के बावजूद परम पद नहीं पा सकता ॥ ६ ॥

इसके बाद एक दिन एकान्त में अपनी पत्नी से वह फिर मिला। उस दिन उसका मन बिलकुल विचारपरक था ॥ ७ ॥

पादप्रक्षालनाद्यैस्तं पूजयित्वा यथाविधि ।
प्रोवाचामृतनिष्यन्दसुन्दरं परमं वचः ॥ ९ ॥
प्रेष्ठ ! त्वामद्य पश्यामि चिराय ननु ते वपुः ।
नीरुज कच्चिदासीद्वै यतो रोगास्पदं वपुः ॥ १० ॥
तन्मामाचक्ष्व वृत्तान्तं यतो नाहं स्मृता त्वया ।
ननु मामसमालोक्य चाप्रभाष्य कदापि ते ॥ ११ ॥
नात्यगाद्दिनभागोऽपि तदेवं कुत आस्थितम् ।
मन्येऽहं मेऽनभिमते वर्त्तनं नहि वर्त्मनि ॥ १२ ॥
स्वप्ने वापि कुतोऽन्यत्र कुत एवमभूद्वद ।
कथं रात्रिस्त्वया नीता चैकापि युगसम्मिता ॥ १३ ॥
विना मां च क्षणोऽप्येको युगकल्पः सुदुःसहः ।
इत्युक्त्वा सा समाश्लिष्य खिन्नेवाभूत् क्षणं ततः ॥ १४ ॥
सोऽपि प्रियासमाश्लिष्टो नेषद्विकृतिमाययौ ।
प्राह प्रिये न मामेवं विमोहयितुमर्हसि ॥ १५ ॥
ज्ञाता मयाऽसि सुदृढं नास्ति ते शोककारणम् ।
परावरज्ञा त्वं धीरा मोहस्त्वां वै कथं स्पृशेत् ॥ १६ ॥

हेमलेखा ने दूर से ही अपने पति को अपने ही घर की ओर आते देखा। उसके सम्मान में उठकर वह खड़ी हो गई, अगवानी कर भीतर ले गई। हाथ-पैर धुलवाकर सुन्दर आसन पर बिठलायी। विधिवत् उसकी अभ्यर्थना की। फिर मधु टपकाती मोहक किन्तु सारगर्भित बातें कहीं ॥ ८–९ ॥

प्रियतम ! बहुत दिनों के बाद आज मैं आपको देख रही हूँ। आप स्वस्थ तो हैं ? क्योंकि यह देह तो रोगों का घर ही है ॥ १० ॥

पहले आप मुझे अपनी बात बतलाइए। इतने दिनों तक आपने मुझे याद तक नहीं किया पहले तो आप मुझे बिना देखे या मुझसे बिना बोले तो दिन में एक पल भी नहीं रह पाते थे। फिर इस तरह आप इतने दिनों तक कैसे रह सके ? ॥ ११ ॥

मैं यह मानती हूँ कि जो मैं नहीं चाहती थी उस रास्ते पर आप जगने की तो बात छोड़िए, सपने में भी कभी नहीं चलते थे। मेरे बिना तो आपको एक पल भी युग या कल्प की तरह दूभर लगता था। फिर बतलाइए न, ऐसा हुआ कैसे ? आपने मेरे बिना युग की तरह एक रात भी कैसे काट ली ? इतना कहकर वह अपने पति से लिपट गई। फिर एक पल के लिए वह बहुत ज्यादे उदास हो गई ॥ १२–१४ ॥

इस तरह पत्नी के लिपटकर गले लग जाने के बावजूद उसके मन में किसी तरह की विकृति नहीं आई। उसने कहा — प्रिये ! इस तरह तुम्हें अब मुझे मोह में नहीं डालना चाहिए ॥ १५ ॥

मैंने तुम्हें ठीक ढंग से पहचान लिया है। तुम्हारे लिए गम की कोई वजह तो नहीं

तत्त्वां प्रष्टुं समायातो यत्तद्वक्ष्यामि संश्रृणु ।
यत् प्राक् स्ववृत्तं कथितं तत् स्फुटं मे समीरय ।। १७ ।।
का सा ते जननी प्रोक्ता सखी वा तत्पतिश्च कः ।
तत् पुत्राद्या अपि च के मम वा ते क्व संवद ।। १८ ।।
न तन्मया सुविदितं न तन्मन्ये मृषोदितम् ।
किन्तु त्वया निगदितं व्यपदेशेन सर्वथा ।। १९ ।।
तद्विविच्य प्रकथय यथा ज्ञास्ये त्वहं स्फुटम् ।
अहं त्वां सुप्रसन्नोऽस्मि छिन्धि मे हृदि संशयम् ।। २० ।।
एवमुक्ता हेमलेखा प्रसन्नवदनेक्षणा ।
मत्वा सुनिर्मलधियं परानुग्रहसंयुतम् ।। २१ ।।
नूनमेषोऽतिविमुखो विषयेभ्योऽतिधैर्यतः ।
विष्णुशक्त्या महेशान्या फलितः पुण्यसञ्चयः ।। २२ ।।
कालः प्रबोधने चायं बोधयामि ततस्त्विमम् ।
नाथ तेऽहो महाभाग्यं प्राप्तमीशकृपावशात् ।। २३ ।।

दीखती, क्योंकि कार्य-कारण रूप जगत् से परे ब्रह्म को तुम पहचानती हो । तुम तो दृढ़ और शान्त चित्तवाली हो । मोह अर्थात् अज्ञान तुम्हें छू कैसे सकता है ? ।। १६ ।।

पहले कभी तुमने अपने बारे में एक कहानी सुनाई थी । उसी के बारे में मैं इस समय तुमसे कुछ पूछने आया हूँ । सुनो, उसे पहले साफ-साफ मुझे समझा दो ।।१७।।

वह तुम्हारी माँ कौन थी, जिसके बारे में तुमने कहा था । तुम्हारी सहेली और उसके पति कौन थे ? उनके बेटे कौन थे ? और यह भी बतलाओ कि मेरे या तुम्हारे साथ उनका वास्ता था ? ।। १८ ।।

उस समय मैं उस प्रसंग को ठीक-ठीक समझ नहीं पाया । क्योंकि तुमने यह सारी कहानी सांकेतिक भाषा में कही थी । मैं यह भी मानने को तैयार नहीं हूँ कि तुमने झूठ कहा होगा ।। १९ ।।

उन्हें सोचकर कहो ताकि मैं साफ-साफ समझ सकूँ । मैं तुमसे बहुत ज्यादे खुश हूँ, मेरे दिल में जो शक है, उसे दूर कर दो ।। २० ।।

अपने पति की ऐसी बातें सुनकर हेममाला का चेहरा खुशी से खिल गया, आँखें चमक उठीं । उसने समझ लिया कि भगवान् की इन पर कृपा हुई है । अब इनकी बुद्धि अतीव शुद्ध हो गई है ।। २१ ।।

निश्चय ही अब ये पूरे सब्र के साथ विषयों से विमुख हो चुके हैं । महामाया की परम कृपा से अब इनका पूर्वकृत पुण्यपुंज फलोन्मुख हो गया है ।। २२ ।।

अब इन्हें यथार्थ ज्ञान पाने का समय आ गया है । अतः मैं इन्हें ज्ञान का उपदेश करूँगी । फिर उसने कहा — प्रियतम ! भगवान् की दया से आपके परम सौभाग्य का उदय हुआ है ।। २३ ।।

अन्यथा नैव विषयवैरस्यं पश्यति क्वचित् ।
एतल्लक्षणमीशस्यानुग्रहे ज्ञेयमादितः ॥ २४ ॥
भोगवैरस्यमपरं विचारप्रवणं मदः ।
हन्त ते सम्प्रवक्ष्यामि वृत्तिं प्रोक्तां सदात्मनः ॥ २५ ॥
परा चितिर्मे जननी सखी बुद्धिर्मता मम ।
अविद्या त्वसती सोक्ता यया बुद्धिः सुसङ्गता ॥ २६ ॥
अविद्यायास्तु सामर्थ्यं लोके स्पष्टं विचित्रितम् ।
यद्रज्जौ सर्पमाभास्य महाभीतिं प्रयच्छति ॥ २७ ॥
महामोहस्तु तत्पुत्रो मनस्तस्य सुतोऽभवत् ।
तस्य पत्नी कल्पना स्यात्तत्सुताः पञ्च येऽभवन् ॥ २८ ॥
ज्ञानेन्द्रियाणि ते पञ्च तत्स्थानं गोलकं भवेत् ।
विषयाणां प्रमोषस्तु संस्कारो मनसो भवेत् ॥ २९ ॥
तद्भोगः स्वप्नभोगः स्यात् कल्पनायाः स्वसा तु या ।
महाशना भवेदाशा तस्य यौ तनुजावुभौ ॥ ३० ॥
क्रोधो लोभश्च तावुक्तौ तत्पुरन्तु शरीरकम् ।
मम यस्तु महामन्त्रः स्वरूपस्फुरणं हि तत् ॥ ३१ ॥

नहीं तो कहीं किसी को कामोपभोग में मजा न मिले। ऊपर वाले की दया जिस पर होती है, उसकी यह पहली पहचान है ॥ २४ ॥

इसकी दूसरी पहचान है—'विलास में विरसता' और मन का चिन्तनशील होना। आपसे मैंने जो आत्मा की स्थिति का वर्णन किया था, उसके रहस्य का खुलासा करती हूँ ॥ २५ ॥

पराचिति मेरी माँ है और बुद्धि सहेली, अविद्या सतीत्वहीन औरत है और बुद्धि के साथ उसकी मित्रता हो जाती है ॥ २६ ॥

अविद्या की अद्भुत ताकत से भला कौन परिचित नहीं है? वह रस्सी में साँप का बोध करा कर लोगों को काफी डरा देती है ॥ २७ ॥

महामोह उसका बेटा है और इसके बेटे का नाम मन है। इसकी पत्नी का नाम कल्पना है। कल्पना को पाँच बेटे हैं। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जिनसे जीवों को विषयों का बोध होता है। ये हैं क्रमशः आँख, कान, नाक, त्वचा और जीभ। इनकी जगह हैं पाँच इन्द्रियगोलक। इन इन्द्रियों के विषयों का सेवन ही मनुष्य के मन का संस्कार बन जाता है ॥ २८-२९ ॥

उन संस्कारों का आस्वादन ही सपने का व्यवहार है। बहुत ज्यादे खानेवाली 'महाशना' कल्पना की बहन आशा है। उसके दो बेटे क्रोध और लोभ हैं। उनका नगर है—मानव-शरीर और मेरा महामंत्र है—उनके स्वरूप का स्फुरण ॥ ३०–३१ ॥

प्राणप्रचारः सम्प्रोक्तो मनसस्तु प्रियः सखा ।
कान्ताराद्यास्तु नरका एवं सर्वं प्रकीर्तितम् ॥ ३२ ॥
मया बुद्धेः सङ्गमस्तु समाधिरभिधीयते ।
मन्मातृलोकसम्प्राप्तिर्मोक्षः प्रिय उदाहृतः ॥ ३३ ॥
एवं प्रोक्तः स्ववृत्तान्तस्त्वमप्येवंविधो ननु ।
तद्युक्त्यैतत् सुविज्ञाय परं श्रेयः समाप्नुहि ॥ ३४ ॥

इति श्रीमज्ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने संसारा-ख्यायिकाविवरणे अष्टमोऽध्यायः ।

'प्रचार' है मनुष्य का जीवन, जो मन का ही प्रिय मित्र है। जंगल नरक को कहा गया है। इस तरह इस प्रसंग के सारे रहस्य का खुलासा हो गया ॥ ३२ ॥

बुद्धि का मेरे साथ मिलाप समाधि है। प्रियतम ! मेरा माँ से मिलन ही मुक्ति है ॥ ३३ ॥

इस तरह मैंने अपनी कहानी आपको सुना दी। निश्चय ही आप भी कुछ ऐसे ही हैं। अतः विचारपूर्वक इन तथ्यों को समझिए और परम श्रेय को पाने की कोशिश कीजिए ॥ ३४ ॥

अष्टम अध्याय समाप्त ।

नवमोऽध्यायः

श्रुत्वेत्थं प्रियया प्रोक्तं हेमचूडोऽतिविस्मितः ।
हर्षगद्‌गदया वाचा पुनर्वक्तुं प्रचक्रमे ॥ १ ॥
धन्या प्रियेऽसि निपुणा अहो ते ज्ञानवैभवम् ।
किं वर्णयामि यत् प्रोक्तमाख्यारूपतयाऽखिलम् ॥ २ ॥
एवंविधं स्ववृत्तं मे नाभवद्विदितं क्वचित् ।
त्वदुक्त्याऽहं सम्प्रति तत् करामलकवत् स्फुटम् ॥ ३ ॥
स्मराम्यनुभवाम्यन्तरहो लोकक्रियाऽद्‌भुता ।
का सा परा चितिर्माता कथं तस्यास्तु नो जनिः ॥ ४ ॥
के वा वयं स्वरूपं किमस्माकं तद् ब्रवीहि मे ।
इति पृष्टा हेमलेखा रामोवाच प्रियं प्रति ॥ ५ ॥
नाथ श्रृणु प्रवक्ष्यामि गूढार्थमिदमादरात् ।
विचारयात्मनो रूपं बुद्ध्याऽत्यन्तविशुद्धया ॥ ६ ॥
न दृश्यं नापि तद्वाच्यमतो वक्ष्यामि तत् कथम् ।
ज्ञातस्वात्मस्वरूपो वै ततो ज्ञास्यसि मातरम् ॥ ७ ॥

अपनी पत्नी का ऐसा तत्त्व-विवेचन सुनकर हेमचूड़ तो दंग रह गया। उसका गला भर आया। रुंधे कण्ठ से उसने फिर कहना शुरू किया ॥ १ ॥

प्रिये ! तुम धन्य हो, बड़ी चतुर हो। तुम्हारे ज्ञान की गहराई भी कमाल की है। तुमने कहानी के रूप में जो कुछ कहा, उसका वर्णन मैं क्या करूँ ? ॥ २ ॥

इस तरह मेरी अपनी बात, कभी मेरी जानकारी में नहीं आई। जब तुमने कहा तो हथेली पर रखे आँवले की तरह सारी बातें साफ झलकने लगीं ॥ ३ ॥

अब तो मुझे खुद अपने भीतर की उस दशा की याद आती है, जिसे मैं अभी भी महसूस कर रहा हूँ। हाय, यह संसार का व्यवहार भी कितना अजूबा है ? पर यह तो बतलाओ, मेरी जननी यह 'पराचिति' क्या है ? इससे हमारा जन्म कैसे होता है ? ॥ ४ ॥

मुझे तुम यह भी बतलाओ कि हम कौन हैं ? हमारा आकार अर्थात् शक्ल क्या है ? परशुराम ! इस तरह जब हमलेखा के प्रिय पति ने उससे पूछा तब उसने कहा ॥ ५ ॥

स्वामी ! सुनिए, मैं इस आत्मतत्त्व का गूढ़ रहस्य समझाती हूँ। आप आदरपूर्वक विशुद्ध बुद्धि से अपनी आत्मा के स्वरूप का विचार करें ॥ ६ ॥

यह आत्मा न तो देखने में आती है और न इसे शब्दों के माध्यम से बतलाया

न ह्यादेशस्वरूपेऽस्ति तत आदेष्टृवर्जितम् ।
स्वं रूपं स्वात्मना पश्य शुद्धबुद्धिसमाश्रयम् ॥ ८ ॥

ही जा सकता है। फिर इसका स्वरूप मैं आपको कैसे समझाऊँ? और जब तक आप अपनी आत्मा के रूप को ठीक ढंग से जान न लेंगे, तब तक अपनी माता को भी नहीं पहचान सकेंगे ॥ ७ ॥

इसकी बनावट के बारे में कोई नसीहत भी नहीं हो सकती, इसलिए इसकी कोई सीख भी नहीं दे सकता है। शुद्ध बुद्धि के सहारे टिकी उस आत्मा को आत्म-भाव से ही आप देख सकते हैं ॥ ८ ॥

विशेष—भगवान् को जानने के पूर्व अपने-आपको जानना अनिवार्य है। आत्मा को जानते ही जाना जाता है कि अब कुछ और जानने को शेष नहीं है। आत्मज्ञान की कुंजी पाते ही ईश्वर का दरवाजा स्वतः खुल जाता है। ईश्वर तो सब जगह है। सृष्टि की समग्र सत्ता में वही है, किन्तु उस तक पहुँचने की निकटतम राह अपने आपमें है। आत्मा की सत्ता ही चूँकि स्वयं के सर्वाधिक निकट है, इसलिए आत्मा की खोज में ही ईश्वर की खोज होनी चाहिए।

और जो स्वयं में ही खोजने में असमर्थ है, जो निकट ही नहीं खोज पाता तो दूर कैसे खोज पायेगा? दूर की खोज का विचार निकट की खोज से बचने का उपाय हो सकता है।

हेममाला अपने पति को समझाना चाहती है कि पदार्थज्ञान और आत्मज्ञान में भेद है। मनुष्य ने अणु-द्व्यणुक तक का अनुसंधान कर लिया है, किन्तु आत्मानुसंधान नहीं कर पाया है। पदार्थज्ञान विषय और विषयी का सम्बन्ध है; आत्मज्ञान विषय विषयी का अभाव। पदार्थज्ञान में ज्ञाता है और ज्ञेय भी। आत्मज्ञान में न ज्ञाता है और न ज्ञेय ही। वहाँ तो मात्र ज्ञान है। वह शुद्ध ज्ञान है, क्योंकि वहाँ न कोई ज्ञेय है और न ज्ञाता। जो ज्ञान शेष रह जाता है वही है आत्मज्ञान। ज्ञान की पूर्ण शुद्धावस्था का नाम ही आत्मज्ञान है। इस ज्ञान को पाने की विधि क्या है? मार्ग क्या है? द्वार क्या है?

श्रद्धापूर्वक इसका अनुभव करना होगा, क्योंकि मैं सबको जान सकता हूँ, लेकिन इसी भाँति अपने-आपको नहीं। शायद आत्मज्ञान जैसी सरल घटना कठिन और दुरूह बन जाती है।

मैं तो निरन्तर हूँ। सोते-जागते, उठते-बैठते, सुख में दुःख में—मैं तो हूँ ही। ज्ञान हो या अज्ञान—सबमें मेरा होना असंदिग्ध है। सब पर संदेह किया जा सकता है, लेकिन स्वयं पर तो संदेह नहीं किया जा सकता। लेकिन यह मैं कौन हूँ? यह 'मैं' क्या है? कैसे इसे जानूँ? यह हो सकता है कि मैं जो जानता हूँ वह सच न हो बल्कि झूठ हो, स्वप्न हो; लेकिन मेरा जानना—जानने की क्षमता—तो सत्य है। इन दोनों तथ्यों को जानना चाहिए, विचारना चाहिए और इन दोनों के आधार पर आत्मा को पहचाना जा सकता है और इसका कोई अन्य विकल्प नहीं है।

देवादितिर्यगन्तानां भान्तं भानैरभासितम् ।
भान्तं सर्वत्र सर्वस्य सर्वदा भानवर्जितम् ।। ९ ।।
कथं कुत्र कदा केन निरूप्येतापि लेशतः ।
मन्नेत्रं दर्शयत्येवमुक्तमेतत् प्रियाधुना ।। १० ।।
नात्राचार्यस्योपयोगो यथा नयनदर्शने ।
निपुणोऽपि महाचार्यः कथं नेत्रं प्रदर्शयेत् ।। ११ ।।
अतो गुरुरुपायोऽत्र तदुपायप्रदर्शनात् ।
तत्ते वक्ष्याम्युपायन्तच्छृणु संयतमानसः ।। १२ ।।
यावत् त्वमात्मनि ममेत्येवन्तु प्रतिपश्यसि ।
ततः परं निजं रूपं यन्ममेति न भाति ते ।। १३ ।।
गत्वैकान्ते विविच्यैतद्यद्यद्भाति ममत्वतः ।
तत्तत् परित्यज्य परं स्वात्मानमभिलक्षय ।। १४ ।।

ज्ञान जहाँ विषय-रिक्त है, वहीं वह स्वप्रतिष्ठित होता है । ज्ञान जहाँ ज्ञेय से मुक्त है, वही शुद्ध है और वह शुद्धता—शून्यता ही आत्मज्ञान है । चेतना जहाँ निर्विषय है, निर्विचार है, निर्विकल्प है, वही जो अनुभूति है, वही स्वयं का साक्षात्कार है । किन्तु इस साक्षात्कार में न कोई ज्ञाता है और न ज्ञेय ही । यह अनुभूति अभूतपूर्व है । इसके लिए शब्द असंभव है । यह शब्दातीत है । इसे खोजा नहीं जा सकता है, क्योंकि यही खोजनेवाला का स्वरूप है ।

यहाँ विषय-निर्मुक्त युक्ति को ही 'शुद्धबुद्धि' कहा गया है । आश्रय अधिष्ठानभूत उस आत्मतत्त्व को निखिल दृश्य रूप अनात्मा का निषेध कर देने पर 'आत्मभाव' से अर्थात् दृश्य और दृश्याभाव के साक्षी रूप से ही हम अनुभव कर सकते हैं । हम जिसे खो नहीं सकते वही हमारा असली स्वरूप है । हम जिसे खो नहीं सकते वही परमात्मा है ।

वह देवता से लेकर कीड़े-मकोड़े तक सबकी आत्मा के स्वरूप में मौजूद है । वह किसी अन्य के प्रकाश से प्रकाशित नहीं है । वह ज्ञान के रूप में हर जगह उद्भासित है । उसे किसी भी प्रमाण का विषय नहीं बनाया जा सकता है ।। ९ ।।

प्रियतम ! क्यों ? कहाँ ? कब ? किसने इसका थोड़ा भी निर्णय किया है; यह बात ठीक उसी तरह है, जैसे कोई कहे कि अब मुझे मेरी आँख दिखला दो ।। १० ।।

जैसे अपनी आँखों से आँखें दिखलाने में गुरु का कोई इस्तेमाल नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी दक्ष से दक्ष गुरु भला आँखों को कैसे दिखला सकता है ? ।। ११ ।।

इसलिए कोई गुरु तो 'आत्मदर्शन' के तरकीब बतलाने की वजह से ही फायदेमंद होते हैं । अतः मैं इसकी तदबीर बतलाती हूँ । आप पूरा सावधान होकर सुनें ।।१२।।

अपने-आप में जहाँ तक आप 'मेरा' महसूस करते हैं; आपका अपना रूप उससे कुछ भिन्न है जो आपको 'मेरा' इस रूप में नहीं दीखता ।। १३ ।।

यथाऽहं ते ममत्वेन भासनान्नात्मता मयि।
सम्बन्धमात्रादात्मीया न स्वरूपगता ह्यहम् ॥ १५ ॥
ममार्थमखिलं त्यक्त्वा यत्त्यक्तुं नैव शक्यते।
तथाऽऽत्मानं समालक्ष्य परं श्रेयः समाप्नुहि ॥ १६ ॥
इत्युक्तः प्रियया हेमचूड उत्थाय वै द्रुतम्।
ययावश्वं समारुह्य तत्क्षणे नगराद्बहिः ॥ १७ ॥
उद्यानं नन्दनसमं प्रविश्य क्षणमात्रतः।
वनान्तसौधमुत्तम्रं स्फाटिकं प्रविवेश ह ॥ १८ ॥

अब आप अकेले में बैठकर इस पर सोचिए और आपको जो कुछ 'मेरा' के रूप में दीख पड़े, उसे छोड़कर अपनी आत्मा को पहचानिए ॥ १४ ॥

आपको मैं जैसे अपने रूप में दीखती हूँ, अतः मुझसे आपका आत्मभाव तो नहीं हो सकता। केवल सम्बन्ध होने के नाते आपकी आत्मीय तो हूँ, पर आपके स्वरूप के भीतर नहीं हूँ ॥ १५ ॥

इसी तरह अपने कहे जाने वाले सब कुछ छोड़ देने के बाद जो शेष बच जाय, उसे ही आत्मा जानकर आप परम कल्याण प्राप्त करें ॥ १६ ॥

विशेष—हेममाला अपने पति को आत्मा के स्वरूप को समझाने की चेष्टा कर रही है। वह कहती है—जो जानी जा सकती है वह आत्मा नहीं हो सकती। जानना तो दूसरे का ही हो सकता है; स्व का नहीं। आत्मा तो वही है जो जानता है। आत्मा अनिवार्य रूप से ज्ञाता है। उसे किसी भी उपाय से ज्ञेय नहीं बनाया जा सकता है। ज्ञाता को जानने की चेष्टा क्या आँख को उसी आँख से देखने के प्रयास की भाँति नहीं है?

जगत् की समस्त वस्तुएँ ज्ञेय की तरह जानी जाती हैं। असल में जो ज्ञेय है, वही वस्तु है—जो जानता है, ज्ञाता है, वही है अवस्तु। ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध है—पदार्थ-ज्ञान। किन्तु जहाँ न ज्ञेय है, न कोई ज्ञाता, क्योंकि जहाँ ज्ञेय नहीं वहाँ ज्ञाता कैसे होगा? वहाँ जो शेष रह जाता है, जो रूप शेष रह जाता है, वही है आत्मा का स्वरूप। सब कुछ खोकर जिसे पाया जा सकता है, वही है आत्मस्वरूप। जिसे किसी भी स्थिति में खोया नहीं जा सकता वही तो है स्वरूप। पदार्थ-ज्ञान खोते ही आत्मज्ञान उपलब्ध होता है। विचार के तटस्थ, चुनावशून्य निरीक्षण से विचार-शून्यता आती है। विचार तो नहीं रह जाते, केवल विवेक रह जाता है। पदार्थज्ञान तो नहीं होता, केवल चैतन्य मात्र रह जाता है। इसी क्षण में प्रसुप्त प्रज्ञा का विस्फोट होता है और आत्मा के द्वार खुल जाते हैं।

पत्नी के इस तरह समझाने पर हेमचूड़ उठ खड़ा हुआ और घोड़े पर सवार होकर उसी समय नगर से बाहर निकल गया ॥ १७ ॥

विसृज्यानुचरान् सर्वान् द्वारपालानशासयत् ।
न कोऽप्यत्र प्रविशतु मय्येकान्तविचारणे ॥ १९ ॥
राजामात्याश्च गुरवो राजा वाऽप्यत्र सङ्गतः ।
अप्रवेश्या एव यावदहमाज्ञां दिशामि वः ॥ २० ॥
इत्युक्त्वाऽऽरुह्य सौधाग्रं नवमीं भूमिमाविशत् ।
तत्र वातायने चित्रे सर्वलोकावलोकने ॥ २१ ॥
आसने मृदुतूलाढ्ये विवेशान्यविवर्जितः ।
मनः समाधाय दृढं विचारमकरोत् तदा ॥ २२ ॥
नूनमेते जनाः सर्वे कथमेवं विमोहिताः ।
न कोऽप्यत्र विजानाति स्वात्मानं लेशतोऽपि च ॥ २३ ॥
सर्वोऽपि स्वात्मनो हेतोः करोति विविधाः क्रियाः ।
केचित् पठन्ति शास्त्राणि साम्नायानि च नित्यशः ॥ २४ ॥
केचिद्धनान्यर्जयन्ति केचिच्छासति चावनिम् ।
अन्ये युध्यन्ति रिपुभिरन्ये भोगैकलम्पटाः ॥ २५ ॥
कुर्वन्त्येतत् स्वार्थमेते स्वस्वात्मा कतमो भवेत् ।
नैनं जानाति कोऽप्यत्र कुत एवमयं भ्रमः ॥ २६ ॥

वराज इन्द्र के उपवन की तरह सुन्दर अपनी वाटिका में बने सफेद बहुमूल्य [illegible] की तरह पारदर्शी पत्थर के बने राजभवन में शीघ्र ही प्रवेश कर गया ॥ १८ ॥

अपने सभी सेवकों को उसने फाटक के बाहर ही छोड़ दिया । पहरेदारों से उसने [illegible] 'जब तक अकेले बैठकर मैं सोचता रहूँ, कोई भीतर घुसने न पाये' ॥ १९ ॥

गुरुजन हों या राजमन्त्री, यहाँ तक कि खुद महाराज भी आ जाय तो भी बिना [illegible] आज्ञा उन्हें भी प्रवेश न दिया जाय ॥ २० ॥

महल में घुसकर वह नौवीं मंजिल पर चला गया । कोमल रुई के गद्दे पर वहाँ [illegible] झरोखे के सामने बैठ गया । वहाँ से बाहर सब कुछ साफ-साफ दिखलाई पड़ता [illegible] । बिलकुल एकान्त में बैठकर, एकाग्र मन से विचार करने लगा ॥ २१–२२ ॥

सचमुच ये लोग अपने तन-मन की सुध क्यों भूले हैं ? ये थोड़ा भी अपनी आत्मा [illegible] को क्यों नहीं जानते ? ॥ २३ ॥

सब अपने-अपने सुख के लिए तरह-तरह के काम में लगे हैं । कोई शास्त्र का [illegible] कर रहा है तो कोई हर दिन वेदपाठ में लगा है ॥ २४ ॥

कोई धन कमाने में मशगूल है तो कोई धरती पर शासन कर रहा है । कोई [illegible] के साथ लड़ रहा है तो कोई भोगविलास में डूबा है ॥ २५ ॥

ये सारे-के-सारे काम अपने हित के लिए समझ कर किये जा रहे हैं । परन्तु [illegible] नहीं जानता कि हम कौन हैं ? आखिर यह भूल कैसे हुई ? ॥ २६ ॥

अहो यथावदात्मानमविदित्वैव वै कृतम् ।
व्यर्थं स्वप्ने कृतमिव तदद्य विमृशामि तम् ॥ २७ ॥
गृहधान्यराज्यधनयोषित्पश्वादिकश्च न ।
न मे स्वरूपं भवति त्वनहन्ताश्रयत्वतः ॥ २८ ॥
मदर्थभूतताहेतोर्देहोऽहं स्यां हि सर्वथा ।
नूनं क्षत्रियदायादो गौराङ्गोऽहं न संशयः ॥ २९ ॥
अहन्तया समाक्रान्तास्तथैतेऽपि जनाः परे ।
इति निश्चित्य दध्यौ तं देहं राजकुमारकः ॥ ३० ॥
अथ देहस्य चात्मत्वं प्रतिषेद्धुं प्रचक्रमे ।
अहो कथं देह एष ममतायाः समाश्रयः ॥ ३१ ॥
रुधिरास्थ्यादिसङ्घातः प्रतिक्षणविकारवान् ।
मम रूपं भवेन्नूनं छिन्नमेतत्तु लक्ष्यते ॥ ३२ ॥
काष्ठलोष्ठसमत्वेन स्वप्नादौ चान्यथा स्थितः ।
नाहं देहोऽन्य एव स्यां प्राणोऽप्येष तथाविधः ॥ ३३ ॥
मनो बुद्धिश्च नाहं स्यां यत एतन्ममेरितम् ।
अतो देहादिबुद्ध्यन्तस्तदन्य एव न संशयः ॥ ३४ ॥

हाय, अपनी आत्मा को बिना पहचाने ये सारे-के-सारे काम तो सपने में किये गये काम की तरह बेकार हैं । अतः अब मैं उसी आत्मा का अनुचिन्तन करता हूँ ॥ २७ ॥

घर, अनाज, राजपाट, धन-दौलत, औरत और पशु तो मेरे स्वरूप नहीं हो सकते । ये मेरे हो सकते हैं, पर ये मैं नहीं हो सकता, क्योंकि ये मेरे आधार नहीं हैं ॥ २८ ॥

'मैं' शब्द का तात्पर्य बिलकुल मेरी देह से है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैं क्षत्रिय कुल में जन्म लेनेवाला गौरवर्ण का राजपूत हूँ ॥ २९ ॥

ये सब लोग देह को 'मैं' मान रहे हैं । ऐसा निश्चय कर वह राजकुमार अपनी देह का आत्मबुद्धि से अनुचिन्तन करने लगा ॥ ३० ॥

'मेरी आत्मा का स्वरूप मेरी देह है' इस मान्यता का वह खुद वर्णन करने लगा । अब वह सोचने लगा—मेरी यह देह मेरी आत्मा का स्वरूप कैसे हो सकती है ? यह तो अपनापन का सहारा है । हाड़, मांस और लहू का समूह है । हर पल बदलने वाली है । काठ और पत्थर की तरह कट कर अलग होनेवाली है । इसके अलावा सपने आदि के समय इसकी दशा कुछ और ही होती है । इसलिए यह देह तो 'मैं' कभी नहीं हो सकती । बची जान, सो वह भी तो ऐसी ही है ॥ ३१–३३ ॥

इसी तरह मन और बुद्धि भी मैं नहीं हो सकते, क्योंकि इन्हें तो मेरा मन और मेरी बुद्धि कहे जाते हैं । इसलिए असंदिग्ध रूप से—देह से लेकर बुद्धि तक जो कुछ है, 'मैं' उससे अलग ही है ॥ ३४ ॥

अहं कदाचिन्नास्मीति भासनाभावहेतुतः ।
सर्वदाऽहं भासमानः स्थित एव न संशयः ॥ ३५ ॥
भासमानस्य तु मम केन भानमिति स्फुटम् ।
न हि जानामि तत् कस्मादेतन्न विदितं मया ॥ ३६ ॥
घटादिकं चक्षुराद्यैर्भासते भुवि नान्यतः ।
प्राणस्त्वचा विभात्येव मनो ज्ञानेन चेहितम् ॥ ३७ ॥
एवं बुद्धिः केन च मे भासनं नाविदं त्विदम् ।
अथैषां भासनादेव नात्मा भासेत मे यदि ॥ ३८ ॥
तर्हि नो विमृशाम्येतांस्ततो मे भासनं भवेत् ।
इति निश्चित्य मनसा जहौ मानसगोचरम् ॥ ३९ ॥
अथाऽपश्यदन्धकारं गाढं तत्क्षणमात्रतः ।
इदं ममाऽऽत्मनो रूपमिति निश्चितमानसः ॥ ४० ॥
प्रहर्षमतुलं लेभे चाऽथ भूयो व्यचिन्तयत् ।
नूनं पुनः प्रपश्यामीत्येवं चित्तं रुरोध वै ॥ ४१ ॥
चञ्चलं हठयोगेन निरुद्धं समवैक्षत ।
तेजःपुञ्जमनाद्यन्तं भास्वरं क्षणमात्रतः ॥ ४२ ॥

'मैं नहीं हूँ' ऐसा तो कभी नहीं लगता। इसलिए मैं तो हमेशा जान ही पड़ता हूँ। इसमें कतई सन्देह की गुंजाइश नहीं है ॥ ३५ ॥

लेकिन 'मैं हूँ' यह बोध किससे होता है ? यह साफ-साफ जाहिर नहीं होता। आखिर इसका पता क्यों नहीं होता ? ॥ ३६ ॥

इस दुनिया में घड़े आदि पदार्थों को तो हम आँखों से ही देखते हैं, किसी और से नहीं। चमड़ी के छूने से जान जानी जाती है। मन का ज्ञानात्मक काम से अन्दाज किया जाता है ॥ ३७ ॥

अपने निश्चयात्मक कर्म से बुद्धि का भी बोध होता है, किन्तु आत्मबोध कैसे होता है ? मैं नहीं जानता, क्यों ? यदि इनकी जानकारी की वजह से आत्मा की जानकारी मुझे नहीं मिलती हो तो इन पर अब मैं विचार करना ही छोड़ देता हूँ। शायद संभव है मुझे आत्मा का बोध हो जाय। इस तरह मन में उठनेवाले सभी विचारों का उसने परित्याग कर दिया ॥ ३८–३९ ॥

विचारमुक्त होते ही थोड़ी देर के बाद उसने घोर अन्धकार देखा और यह समझ कर उसे अपार हर्ष हुआ कि आत्मा का यही स्वरूप है। फिर यह सोचकर कि अभी और कुछ देखना चाहिए; उसने अपने चंचल मन को हठयोग से वश में किया। चित्तनिरोध होते ही उसने एक पल में ही आदि-अन्त रहित अत्यन्त प्रदीप्त तेजः-पुञ्ज देखा ॥ ४०–४२ ॥

प्रबुद्धश्चिन्तयामास किमेतदिति विस्मितः।
अहो पश्यामि विविधं किमात्मानं कथन्त्विदम् ॥ ४३ ॥
भूयः पश्यामि चेत्येवं रुरोध स्वमनस्तदा।
विलीनं निद्रया चित्तं बभौ चिरतरं दृढम् ॥ ४४ ॥
तत्राऽपश्यत् स्वप्नजालं विचित्रानेकदर्शनम्।
अथ प्रबुद्धोऽत्यन्तं वै चिन्तां प्राप महत्तराम् ॥ ४५ ॥
किमहं निद्रयाऽऽच्छन्नः स्वप्नान् समवलोकयम्।
तमस्तेजश्चापि दृष्टमहो स्वप्नात्मको भवेत् ॥ ४६ ॥
स्वप्नस्तु मानसोल्लासस्तदेतं वर्जये कथम्।
भूयो निगृह्य पश्यामीत्येवं निश्चित्य वै दृढम् ॥ ४७ ॥
रुरोध चित्तं तु हठात् तदेतदभवत् स्थिरम्।
तदानन्दसमुद्रान्तर्निमग्न इव सोऽभवत् ॥ ४८ ॥
पुनश्चित्तप्रचलनात् प्रबुद्धोऽभवदञ्जसा।
किमेष मेऽभवत् स्वप्नश्चाऽथ वा चित्तविभ्रमः ॥ ४९ ॥
आहोस्वित् सत्य एष स्यादविचिन्त्यं विभाति मे।
नाऽन्वभूवं किञ्चिदपि सुखमाप्तं कथं मया ॥ ५० ॥
अहोऽस्य सुखलेशस्य तुल्यं नास्त्यत्र किञ्चन।
अहं सुषुप्तवन्मूढः कथमेतत् सुखं स्थितम् ॥ ५१ ॥

होश आने पर चकित होकर वह सोचने लगा — यह क्या था ? अहो ! मैं अपनी आत्मा को इस तरह अनेक रूपों में क्यों देख रहा हूँ ॥ ४३ ॥

अच्छा, तो मैं फिर देखता हूँ। यह सोचकर उसने फिर मन का निग्रह किया। इस बार उसका चित्त बहुत देर तक गहरी नींद में खोया रहा ॥ ४४ ॥

इस हालत में उसने अपने में अनेक रंग-बिरंगे दृश्य देखें। मन से नींद की छाया हटते ही वह फिर गहरे सोच में डूब गया ॥ ४५ ॥

क्या नींद में मैंने ये सारे सपने ही देखे थे ? तब तो मैंने जो अन्धकार और प्रकाश देखे थे वे भी तो सपने ही होने चाहिए ॥ ४६ ॥

सपने तो मन की ही एक झलक है, तो फिर मैं इसे कैसे रोकूँ ? अच्छा, एक बार फिर मन को रोक कर तो देखूं। ऐसा पक्का इरादा कर हठपूर्वक चित्त का निरोध किया। इस बार उसका मन स्थिर हो गया। वह मानो हर्ष के सागर में गोता लगाने लगा ॥ ४७–४८ ॥

फिर अन्तःकरण गतिशील होने के कारण स्वभाव से ही वह जगकर सोचने लगा। क्या इस बार भी मुझे सपना ही हुआ था या मेरे मन का भ्रम था अथवा यह सच था। मुझे तो सब कुछ बड़ा बेढब लगता है। मैंने तो कुछ भी अनुभव नहीं किया, फिर मुझे यह सुख कहाँ से महसूस हुआ ॥ ४९–५० ॥

नात्र हेतुं कञ्चिदपि लक्षये तत् कथं भवेत् ।
आत्मावगमनायाऽहं प्रवृत्तोऽप्यद्य नाऽविदम् ॥ ५२ ॥
आत्मानमन्यच्चान्यच्च पश्यामि किमिदं भवेत् ।
प्रकाशो वाऽन्धकारो वा सुखं वाऽन्यदथापि वा ॥ ५३ ॥
आत्मा भवेन्मम तथा क्रमिकैतत्स्वरूपकः ।
नाऽन्तमेम्यत्र भूयस्तां पृच्छामि विदुषीं प्रियाम् ॥ ५४ ॥
इति निश्चित्य द्वारेशमाहूयाज्ञां समाविशत् ।
स्वसन्निधानमानेतुं हेमलेखां नृपात्मजः ॥ ५५ ॥
अथ प्राप्ता मुहूर्त्तेन द्वारिकस्य निदेशतः ।
आरुरोह महासौधं मेरुमिन्दुप्रभेव सा ॥ ५६ ॥
अथाऽपश्यद्राजसुतं प्रियं शान्तात्ममानसम् ।
निश्चलं निर्विकारञ्च संहृतेन्द्रियमण्डलम् ॥ ५७ ॥
समीपमुपसृत्याशु तद्विष्टरमुपारुहत् ।
एकासनोपविष्टायां तस्यां स निमिषार्द्धतः ॥ ५८ ॥

अहो, इस सुख के छोटे-से-छोटा कण भर सुख की तुलना संसार के किसी सुख से नहीं हो सकती। मैं तो गहरी नींद में खोया था। मुझे फिर यह सुख कैसे मिला? ॥ ५१ ॥

इसकी वजह तो मुझे कुछ दिखायी नहीं देती। फिर यह सब कैसे हुआ? मैंने तो आत्मा का स्वरूप जानना चाहा था, सो तो अब तक जान ही नहीं सका ॥ ५२ ॥

इस आत्मा को तो मैं अलग-अलग रूपों में ही देख रहा हूँ। दरअसल यह है क्या? अन्धकार, प्रकाश या सुख है अथवा कुछ और ही है? ॥ ५३ ॥

अथवा मेरी आत्मा के ही सिलसिलेवार ढंग से ये सब रूप हैं? इसके बारे में मैं कुछ भी निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ। मेरी पत्नी विदुषी है। उसी से चलकर पूछ लूँ ॥ ५४ ॥

ऐसा निश्चय कर राजकुमार ने पहरेदार को बुलाकर हेमलेखा को अपने पास बुला लाने का हुक्म दिया ॥ ५५ ॥

इसके बाद पहरेदार से सूचना पाकर पलभर में हेमलेखा वहाँ आ गयी और पर्वतराज सुमेरु के सुनहले शिखर पर चढ़ती चाँदनी की तरह उस भव्य राजमहल की नौवीं मंजिल पर चढ़ गयी ॥ ५६ ॥

वहाँ उसने अपने प्रिय पति राजकुमार को देखा। उसका शरीर और मन बिलकुल शान्त थे, प्राण स्थिर थे, काम-क्रोधादि विकार खत्म हो चुके थे तथा इन्द्रियाँ संयत थीं ॥ ५७ ॥

शीघ्र ही उसके पास पहुँचकर उसी के बिस्तर पर बैठ गयीं। एक ही आसन

उन्मील्य नयने पार्श्वे समालोकयदास्थिताम् ।
आलोकिता प्रियं शीघ्रं प्रणयात् परिषस्वजे ।। ५९ ।।
ततः प्राहाऽमृतस्यन्दि सुन्दरं वचनं प्रिया ।
नाथ किं भवताऽऽहूता कच्चित्ते नीरुजं तनौ ।। ६० ।।
वदाऽऽहूतौ कारणं मे यदर्थमहमागता ।
एवं प्रियानुयुक्तः स बभाषे स्वात्मनः प्रियाम् ।। ६१ ।।
प्रिये त्वयाऽनुशिष्टोऽहं विविक्तेऽत्र समास्थितः ।
विचारपरमः स्वात्मरूपलक्षणहेतवे ।। ६२ ।।
तत्परेणापि चित्तन्तु लक्षितं तत् पृथक् किमु ।
आत्मनः सर्वदा प्राप्तेर्भासमानत्वतोऽपि च ।। ६३ ।।
असम्यग् भासनञ्चान्यभासनस्य निमित्ततः ।
इति मत्वा निरुध्यान्यभासनं सुव्यवस्थितः ।। ६४ ।।
अपश्यमन्धकारञ्च प्रकाशमन्यदेव च ।
क्वचित् सुखं महत् प्राप्तं किमेतद्वद मे प्रिये ।। ६५ ।।
इदमेवात्मनो रूपमथवाऽन्यद्भवेत् क्वचित् ।
सम्यग् विविच्य कथय यथा तमभिलक्षये ।। ६६ ।।

पर उसके बैठ जाने के बाद पलक झपकते आँखें खोलकर उसे बगल में बैठी देखा ।। ५८½ ।।

हेमचूड़ की आँखें ज्यों ही उस पर पड़ी, उसने बड़े प्यार से उसे गले लगा लिया। फिर अमृत बरसाती मीठी वाणी में बोली ।। ५९½ ।।

स्वामी ! आपने मुझे कैसे याद किया ? आपकी देह तो तन्दुरुस्त है न ? मुझे यहाँ बुलाने की वजह क्या है ? किसलिए मैं यहाँ आयी हूँ ।। ६०½ ।।

पत्नी ने जब इस तरह पूछा तब उसने कहा – प्रिये ! तुम्हारा उपदेश सुनकर मैं यहाँ एकान्त में आत्मदर्शन के लिए विचार में लीन होकर बैठ गया ।। ६१–६२ ।।

मैं बिलकुल आत्मचिन्तन में ही लगा था। आत्मा तो हमेशा साथ ही है। वह प्रकाशस्वरूप है, फिर मुझे उसके अनेक रूप क्यों दिखायी दिये ।। ६३ ।।

फिर यह सोचकर कि यह गलत जानकारी दूसरी चीजों की जानकारी की वजह से ही हुई है, अतः मैं हर तरह के अनुचिन्तनों को रोककर बिलकुल स्थिर हो गया ।। ६४ ।।

तब मैंने अन्धकार देखा, प्रकाश देखा और अनेक चित्र देखें। फिर मुझे काफी सुख भी मिला। अब प्रिये ! तुम्हीं बतलाओ, ये सब क्या थे ? ।। ६५ ।।

क्या आत्मा का यही स्वरूप है या कुछ और ? ठीक ढंग से विवेचन कर यह बात मुझे समझा दो। ताकि मैं भी उसे महसूस कर सकूँ ।। ६६ ।।

इत्युक्ता साऽब्रवीद्धेमलेखा ज्ञातपरावरा ।
शृणु प्रिय प्रवक्ष्यामि समाहितधियाऽखिलम् ॥ ६७ ॥
यस्त्वया बाह्यसंरोधे व्यवसायः समेधितः ।
स शुभः सम्मतः सर्वैः मुमुक्ष्यश्चात्मवेदिभिः ॥ ६८ ॥
विना तेन न तत् प्राप्तं केनापि कुत्रचित् क्वचित् ।
न तत् कारणतामेति तत्प्राप्तौ प्राप्तभावतः ॥ ६९ ॥
अप्राप्तावात्मता न स्यादात्मत्वेनाप्तता कुतः ।
अप्राप्यः सर्वथैवात्मा प्राप्तिस्तस्य न विद्यते ॥ ७० ॥

इस तरह पूछे जाने पर परमात्मतत्त्व को जानने वाली हेमलेखा ने कहा—स्वामी ! मैं आपको सारा रहस्य समझाती हूँ, आप सावधान होकर सुनें ॥ ६७ ॥

आपने जो बाहरी चेष्टाओं को रोकने की कोशिश की वह तो बहुत ही अच्छा है और इसे ही सब आत्मज्ञानी प्रमुख साधन भी मानते हैं ॥ ६८ ॥

उसके बिना आज तक किसी को कहीं भी कुछ भी नहीं मिला है। किन्तु आत्मा को पाने का यह कारण नहीं है, क्योंकि आत्मा तो खोई नहीं, पायी ही है ॥ ६९ ॥

विशेष—हेममाला ने पति को समझाने के क्रम में कहा—खोज तो उसकी होती है जो कहीं खो जाता है। जो कभी खोया ही नहीं उसकी भला खोज कैसी ? आत्मा तो निरन्तर है; सोते-जागते, उठते-बैठते, सुख में, दुःख में—आत्मा तो है ही। ज्ञान हो या अज्ञान, आत्मा का अस्तित्व अबाध है, असंदिग्ध है। वस्तुतः उसे खोजा भी नहीं जा सकता, क्योंकि वह खोजने वाले का ही स्वरूप है। इस खोज में खोज और खोजी भिन्न नहीं है। खोज को, सब भाँति की खोज को छोड़ते ही चेतना वहाँ पहुँच जाती है जहाँ वह सदा से ही है।

इन्द्रियों की पकड़ से ऊपर उठकर, विचारशून्य चित्त की स्थिति में जिसका साक्षात्कार होता है, वही अनन्त, असीम, अनादि आत्मा है।

जीव को अपनी अज्ञानता के कारण 'आत्मा की खोज' जैसी भ्रान्ति होती है। अतः किसी भी साधन से केवल अज्ञान की निवृत्ति की ही सम्भावना है। आत्मा तो सदा उसके साथ ही है। यदि किसी साधन के माध्यम से आत्मा की प्राप्ति मानी जाय तो फिर घट-पटादि की तरह जड़परिच्छिन्न और अनात्म ही सिद्ध होगा। अतः किसी साधन का उपयोग अज्ञान की निवृत्ति के लिए है, आत्मा की खोज के लिए नहीं।

इस आत्मा को जानने की आँखें शून्य हैं। यही शून्य समाधि है, यही योग है। चित्त की वृत्तियों के विसर्जन से बन्द आँखें खुलती हैं और सारा जीवन अमृत-प्रकाश से आलोकित और रूपान्तरित हो जाता है। वहाँ फिर पूछना नहीं होता कि आत्मा है या नहीं ? वहाँ केवल जाना जाता है; वहाँ केवल दर्शन है। विचार, वृत्तियाँ और चित्त जहाँ नहीं है, वहीं है—आत्मा का दर्शन।

अप्राप्तस्य भवेत् प्राप्तिरात्मत्वान्नाप्तिरस्त्यतः ।
तन्निरोधोऽपि नाप्त्यर्थस्तत्र पश्य निदर्शनम् ॥ ७१ ॥
अन्धकारसमाच्छन्नं किञ्चित् तस्य निरोधतः ।
दीपाद्यैराप्यते प्राप्तमिव लोके यथा तथा ॥ ७२ ॥
यथा कश्चिद् भ्रान्तचित्तः कश्चिद्विस्मृतनिष्ककः ।
अन्यचिन्तानिरोधेन समाहिततया पुनः ॥ ७३ ॥
आसादयति तन्निष्कं नष्टं प्राप्तं यथा तथा ।
न निरोधोऽत्र हेतुः स्यान्निष्काप्तौ तु यथा तथा ॥ ७४ ॥
आत्मलाभेन हेतुः स्यान्निरोधो बाह्यवस्तुनः ।
त्वया न लक्षितः स्वात्मा तत्र व्युत्पत्तिवर्जनात् ॥ ७५ ॥
यथा प्रकाशे व्युत्पन्नो रात्रौ राजसभां गतः ।
पश्यन् सभ्यांश्च दीपांश्च न जानाति प्रकाशकम् ॥ ७६ ॥
शृणु प्रिय निरोधान्ते ह्यन्धकारो विलोकितः ।
अन्धकारावलोकादौ शेषभावस्तव स्थितः ॥ ७७ ॥

आत्मा के साथ खोने या पाने की बात नहीं हो सकती। यदि वह खोयी है तो वह आत्मा नहीं हो सकती और यदि वह है तो कहाँ पायी जा सकती है ? अतः आत्मा कहीं भी पायी नहीं जा सकती है, उसका पाना सम्भव नहीं है ॥ ७० ॥

खोई वस्तु ही पायी जाती है। आत्मा खोती नहीं, इसलिए पायी नहीं जाती। मन की रोक भी इसे पाने का कारण नहीं बन सकती। एक उदाहरण लें ॥ ७१ ॥

जैसे अँधियारे घर में रखी वस्तु नहीं दीखती, दीपक जलते ही वह चीज दीखने लगती है, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिए ॥ ७२ ॥

जैसे कोई भुलक्कड़ आदमी कहीं सोना रखकर भूल जाय और फिर बाहरी बातों पर गौर करना छोड़कर मन को उसी पर केन्द्रित कर सोचते ही वह मिल जाय तो वह सोना खोकर पाया हुआ माना जाता है। ठीक उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिए। जैसे गैर-गौरतलब बातों का खयाल छोड़ना सोना पाने की वजह नहीं है। उसी तरह आत्मा पाने में भी मन की रोक कारण नहीं है। आप आत्मा के रूप को नहीं जानते हैं; इसीलिए आप उसे महसूस नहीं कर पाते हैं ॥ ७३–७५ ॥

रोशनी से अनजान अगर कोई आदमी रात में किसी दरबार में हाजिर हो तो वहाँ वह दरबारियों और चिरागों को देखते हुए भी रोशनी करनेवाले को नहीं जान पाता ॥ ७६ ॥

प्रियतम ! सुनिए, आपने अन्तःकरण की अनुसंधानात्मक वृत्ति को रोकने के बाद अन्धकार देखा। किन्तु उस अन्धकार को देखने से पहले निर्विकल्पावस्था में सारे विषयों के अभाव में शेष रूप से तो आप ही रह गये थे ॥ ७७ ॥

विशेष—हमारा चित्त साधारणतः विषयों, विचारों और उनके प्रति सूक्ष्म

तं भावं भावय सदा परमानन्ददायकम् ।
अत्र सर्वे महामोहग्रहग्रस्ताः पराग्दृशः ॥ ७८ ॥
अन्विष्यान्विष्य विहता न तां प्रापुश्च भावनाम् ।
सन्ति लोके शास्त्रविदः कुशलाश्च सुतार्किकाः ॥ ७९ ॥
अविदित्वा भावममुं शोचन्त्येव दिवानिशम् ।
शब्दार्थशिल्पमात्रेण न हि तत् पदमाप्यते ॥ ८० ॥
यावदन्वेषणं कुर्याद्विचारं वाऽपि पण्डितः ।
तावन्न प्राप्यते तद्धि यतो न ग्राह्यमेव तत् ॥ ८१ ॥
गत्वा दूरं न तत् प्राप्यं स्थित्वा प्राप्तं हि सर्वदा ।
न तद्विचार्यं विज्ञेयमविचाराद्विभासते ॥ ८२ ॥

विचारों से आच्छन्न रहता है। इन अशान्त लहरों की क्रमशः एक मोटी दीवार बन जाती है। यही दीवार हमें स्वयं के बाहर रखती है।

चित्त-विषयों के प्रति अनासक्ति उसके संस्कार बनने बन्द हो जाते हैं। चित्त-वृत्तियों के प्रति जागरूकता से उन वृत्तियों का क्रमशः विसर्जन प्रारंभ होता है और चित्तसाक्षी की स्मृति से स्वयं का द्वार खुल जाता है।

जो वस्तु जहाँ उद्‌गम पाती है, उससे ही अन्ततः लीन भी होती है। उद्‌गम-बिन्दु ही लयबिन्दु भी होता है और जो उद्‌गम है, जो लय है, वही स्व-स्वरूप भी है।

फलतः चित्तवृत्ति के निरोध काल में विषयों का सर्वथा अभाव हो जाने पर जो ज्ञानमात्र शेष रह जाता है, वही आत्मा का शेष भाव है। उसका किसी प्रकार निरोध नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है। ऐसी ही स्थिति में रन्ध्र-रन्ध्र उसकी अनुभूति से भर जाता है। चित्तवृत्तियों के विसर्जन से ही आत्मसाक्षात्कार संभव है।

उस अशेष सुख देनेवाला शेषभाव अर्थात् परम तत्त्व पर हमेशा गौर फरमाइए। सभी बहिर्मुख लोग यहाँ आकर ही महामोह में फँस जाते हैं। वे खोज-खोज कर थक जाते हैं, फिर भी इस भाव तक पहुँच नहीं पाते हैं ॥ ७८½ ॥

संसार में ऐसे अनेक शास्त्रवेत्ता एवं कुशल तार्किक हैं, जो इस प्रज्ञातत्त्व की सही जानकारी न मिलने के कारण दिन-रात शोकाकुल रहते हैं। केवल शब्दार्थ-ज्ञान से उस परम पद को जाना नहीं जा सकता ॥ ७९–८० ॥

कोई ज्ञानी व्यक्ति जब तक आत्मा की खोज या उसके विचार में लगा रहता है, तब तक उसे आत्मा नहीं मिलती। क्योंकि वह जानने लायक तो है ही नहीं ॥ ८१ ॥

विशेष—आत्मा को खोजने से पूर्व अपने-आपको जानना अनिवार्य है। अपने-आपको जानते ही जाना जाता है कि अब कुछ और जानने को शेष नहीं है। जो जाना जा सकता है, वह 'स्व' कैसे होगा? वह तो 'पर' ही हो सकता है। स्व तो वह है जो जानता है। वह तो ज्ञाता है, उसे ज्ञेय नहीं बनाया जा सकता है।

धावन् स्वमूर्द्धच्छायेव न प्राप्यं क्रियया क्वचित् ।
यथा हि निर्मलादर्शे प्रतिबिम्बसहस्रकम् ॥ ८३ ॥
पश्यन् बालोऽपि नाऽऽदर्शं पश्यत्येवं जनः खलु ।
पश्यन् स्वात्ममहादर्शे प्रतिबिम्बं हि जागतम् ॥ ८४ ॥
स्वात्मानं न विजानाति तद्व्युत्पत्तिविवर्ज्जनात् ।
यथाऽपरिचिताकाशः पश्यन्नाकाशसंश्रितम् ॥ ८५ ॥
जगन्नावैति चाकाशं तथा स्वात्मस्वरूपकम् ।
नाथ सूक्ष्मदृशा पश्य ज्ञानज्ञेयात्मकं जगत् ॥ ८६ ॥
तत्र ज्ञानं स्वतःसिद्धं तदभावे न किञ्चन ।
प्रमाणानां प्रमाणं तदप्रमाणं स्वतो भवेत् ॥ ८७ ॥
यतः प्रमाणानपेक्षमादिसिद्धमतस्तु तत् ।
सिद्धसाधकभावेन न तत्सिद्धिः कदाचन ॥ ८८ ॥

दूर तक चलकर उसे पाया नहीं जा सकता, वह तो हमेशा स्थिर रहने से ही मिलता है। विचार करने से उसकी अनुभूति नहीं होती, वह तो विचारशून्य स्थिति में ही जानी जाती है। जैसे अपने सिर की छाया दौड़कर पकड़ी नहीं जा सकती, उसी तरह किसी क्रिया से इसकी पकड़ संभव नहीं है ॥ ८२½ ॥

जैसे एक छोटा बच्चा साफ आइने में हजारों परछाईं देख लेता है, पर आईने को नहीं देख पाता; उसी तरह ये सामान्यजन आत्मारूपी आईने में संसार की परछाईं देखते हुए भी जानकारी नहीं रहने के कारण अपनी आत्मा को ही नहीं देख पाते हैं ॥ ८३–८४½ ॥

आसमान से अनजान आदमी आसमान में मौजूद सारी दुनिया को देखते हुए भी आकाश को नहीं जान पाता, उसी तरह जीव अपने ही स्वरूप को जान नहीं पाता ॥ ८५½ ॥

स्वामी! आप जरा इस ज्ञान और ज्ञेय स्वरूप संसार को गहरी निगाह से परखिए। इसमें जो ज्ञान है वह तो अपने-आप में सिद्ध ही है। अगर वह न हो तो कुछ भी नहीं रह सकता ॥ ८६½ ॥

वह समस्त प्रमाणों का प्रमाण है, किन्तु खुद किसी प्रमाण का विषय नहीं है। क्योंकि अपनी सिद्धि के लिए उसे किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। अतः वह सबसे पहले सिद्ध है। वह किसी भी सिद्धि का साधक है। इस तरह भी उसकी कभी सिद्धि नहीं हो सकती है ॥ ८७–८८ ॥

विशेष—क्योंकि उससे भिन्न किसी की सत्ता नहीं रहने के कारण उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। वह न तो किसी का कर्त्ता है और न करण ही, जो किसी की सिद्धि का साधन या साधक बने।

तत्र विप्रतिपन्नस्य न प्रश्नो नापि चोत्तरम् ।
अनपह्नवनीयं तन्महादर्शतलं भवेत् ॥ ८९ ॥
तत्र सर्वं भासते वै दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।
देशेन वापि कालेन परिच्छित्तिर्न विद्यते ॥ ९० ॥
तदन्तर्भासमानत्वात् कथं ताभ्यां परिच्छिदिः ।
परिच्छेदस्य भानन्तु गगने वस्तुभिर्यथा ॥ ९१ ॥
राजपुत्र सूक्ष्मदृशा तल्लक्षय निजं वपुः ।
यत्र सामान्यचैतन्ये जगदेतद्विराजते ॥ ९२ ॥
तत्समावेशसंसिद्धया सर्वकर्तृत्वमाप्नुयात् ।
तस्योपलब्धिं वक्ष्यामि यतः प्राप्नोति तत् पदम् ॥ ९३ ॥
निद्राजाग्रन्मध्यभागे संविद्भेदान्तरे तथा ।
मध्ये संविद्भेदयोश्च सूक्ष्मबुद्ध्याऽभिलक्षय ॥ ९४ ॥
एतत् पदं निजं रूपं यत् प्राप्य न विमुह्यसि ।
एतदज्ञानमात्रेण प्रवृत्तं जगदीदृशम् ॥ ९५ ॥
नात्र रूपं रसो वापि न गन्धस्पर्शशब्दकम् ।
न दुःखं न सुखं वा तु न ग्राह्यं ग्राहकश्च न ॥ ९६ ॥

जिसे उस ज्ञान के होने में सन्देह है, उसका न कोई सवाल हो सकता है और न जवाब ही। एक महान् आईने की तरह उसका किसी तरह निषेध भी नहीं किया जा सकता ॥ ८९ ॥

आईने में परछाईं की तरह उसी में सब कुछ दिखलाई पड़ता है। किसी भी स्थान और समय से उसे अलग नहीं किया जा सकता है ॥ ९० ॥

क्योंकि ये जगह और समय भी तो उसी में दीख रहे हैं, फिर इससे उनका अलगाव कैसे संभव हो सकता है? इससे उनका अलगाव तो उसी तरह का है जैसे घटादि में आकाश के अलगाव का बोध होता हो ॥ ९१ ॥

राजकुमार! गहरी निगाह से आप जरा अपने उस रूप पर तो गौर करें। बिलकुल उस सामान्य चैतन्य ज्ञान पर ही सारी दुनिया टिकी है ॥ ९२ ॥

उस परम तत्त्व के साथ अभेद की अनुभूति पक्की हो जाने पर जीव परमात्मा के साथ तन्मयता प्राप्त कर लेता है। मैं आपको उसे पाने की जगह बतलाती हूँ, ताकि आपको उस परम पद की प्राप्ति हो सके ॥ ९३ ॥

नींद और जागरण के बीच की अवस्था में, मन के एक विचार को छोड़कर दूसरे विचार पर जाने के बीच की स्थिति में और दो तरह के अनुचिन्तनों के बीच में आप सूक्ष्म बुद्धि से उस परमतत्त्व की अनुभूति पाने की चेष्टा करें ॥ ९४ ॥

यह स्थिति ही अपना असली रूप है, जिसे पा लेने पर जीव मोह में नहीं पड़ता। इसकी जानकारी के अभाव में ही विश्व के प्रपंच का प्रसार है ॥ ९५ ॥

सर्वाश्रयं सर्वरूपमपि सर्वविवर्जितम् ।
एष सर्वेश्वरो धाता विष्णुरीशः सदाशिवः ॥ ९७ ॥
पश्येषदन्तः संरुध्य स्वात्मानं स्वात्मना सता ।
त्यक्त्वा बहिः प्रसरतामन्तः प्रसरणोद्यतः ॥ ९८ ॥
त्यक्त्वा पश्यामीति भावमन्धवन्निश्चलात्मना ।
दर्शनादर्शने त्यक्त्वा योऽसि सोऽसि द्रुतं भज ॥ ९९ ॥
इत्युक्तः प्रियया हेमचूड आलक्ष्य तत् पदम् ।
चिरं विश्रान्तिमालभ्य बहिर्विस्मरणं ययौ ॥ १०० ॥

इति श्रीज्ञानखण्डे हेमचूडविश्रान्तिर्नवमोऽध्यायः ।

आत्मा के इस स्वरूप में न कोई रूप है, न रस; न कुछ गंध है और न स्पर्श; यह न कोई शब्द है, न सुख है और न दुःख; यह न तो ग्राह्य है और न ग्राहक ही ॥ ९६ ॥

यह सबका आधार और सब रूप में होने पर भी सबसे अलग है। यही सब का मालिक है, यही ब्रह्मा है और यही विष्णु तथा सदाशिव है ॥ ९७ ॥

अपनी मनःस्थिति को थोड़ा रोककर अपनी पवित्र आत्मा से ही अपनी आत्मा को तो देखें। चित्त के बाहरी फैलाव को रोककर उसे भीतर की ओर मोड़ने का प्रयास तो कीजिए ॥ ९८ ॥

'मैं देखता हूँ' इस विचार को छोड़कर बिलकुल अन्धे की तरह अचल चित्त होकर देखने और नहीं देखने के चिन्तन को भी छोड़कर आप जो कुछ हैं, शीघ्र उसी रूप में स्थिर हो जाँय ॥ ९९ ॥

विशेष—निर्विचार परम चैतन्य का साक्षात् ही आत्मा है। वही साधना सार्थक है जो निर्विचारणा की ओर है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तावस्था के विकल्पों को छोड़कर इन तीनों का साथी और इन तीनों से विलक्षण तथा तीनों में अनुगत जो सामान्य चैतन्य रूप तुरीज है, यही आप हैं। अतः उसी असली आत्मस्वरूप में आप स्थिर हो जाइए।

प्रिय पत्नी के इस तरह समझाने पर हेमचूड़ ने उस आत्मा के स्वरूप का स्पष्ट अनुभव किया। इन्द्रियग्राह्य बाहरी विषयों को वह बिलकुल भूलकर बहुत दिनों तक निर्विकल्प समाधि में लीन हो गया ॥ १०० ॥

नवम अध्याय समाप्त ।

दशमोऽध्यायः

अथाऽपश्यद्धेमलेखा प्रियं प्राप्तपरस्थितिम् ।
न चालयत्परपदात् ततः सोऽपि मुहूर्ततः ॥ १ ॥
प्रबुद्ध उन्मील्य नेत्रे सोऽपश्यत्सप्रियं जगत् ।
भूयस्तत्पदविश्रान्तिमीहमानोऽतिवेगतः ॥ २ ॥
नेत्रे निमीलयद् यावदब्रवीत् तावदेव सा ।
प्रियं हस्ते समादाय सुधासुन्दरभाषिणी ॥ ३ ॥
नाथ किं ते व्यवसितं ब्रूहि नेत्रनिमीलनात् ।
उन्मीलनाद्वा किं स्यात्ते लाभालाभौ समीरय ॥ ४ ॥
उन्मील्य न प्राप्यते किं निमील्य प्राप्यते च किम् ।
तन्मे ब्रूहि प्रियतम श्रोतुमिच्छामि ते स्थितिम् ॥ ५ ॥
एवं पृष्टस्तया प्राह मदमत्त इवालसः ।
अनिच्छन्नपि वक्तुं तामालस्यभरमन्थरः ॥ ६ ॥
प्रिये विश्रान्तिमत्यन्तं प्राप्तवानस्मि वै चिरात् ।
न बाह्ये दुःखभूयिष्ठे विश्रमोऽस्ति क्वचिन्मम ॥ ७ ॥

(सभी तत्त्वज्ञ हो गये)

इसके बाद हेमलेखा ने देखा कि उसके पति को जब आत्मपद की स्थिति मिल गयी तब उसने भी उसे कुछ देर तक उस पद से विचलित नहीं किया ॥ १ ॥

फिर उसने बड़ी होशियारी से अपनी आँखें खोलकर पत्नी के साथ सारी दुनिया को देखा । किन्तु ज्यों ही वह फिर आँखें बन्द कर उसी परम पद में चैन पाने की चेष्टा करने लगा तब जल्द ही हेममाला ने उसका हाथ थामकर अमृत-घुली मीठी आवाज में कहा—॥ २–३ ॥

स्वामी ! बतलाइए, अब आपका विचार क्या है ? कहिए न, इस तरह आँखें मूँदने या खोलने से आपको क्या नफा या नुकसान होता है ? ॥ ४ ॥

प्रिय ! मैं आपके बारे में जानना चाहती हूँ । आँखें बन्द कर लेने पर आपको क्या सुख मिलता है और खुली रखने पर क्या नहीं मिलता है ? यह मुझे बतला दें ॥ ५ ॥

अलसाये मन के कारण उस समय वह कुछ सुस्त हो रहा था । पत्नी के सवाल का जवाब उस समय नहीं देना चाहते हुए भी एक मतवाले की तरह उसने कहा ॥६॥

प्रिये ! मुझे आज बहुत दिनों के बाद बड़ी शान्ति मिली है । अब मुझे दुःखभरी इस दुनिया के बाहरी जंजाल में कहीं सुख-चैन नहीं मिलता ॥ ७ ॥

अलं ऋजीषरोमन्थप्रायव्यवहृतैर्बहिः ।
दौर्भाग्यान्धो नाद्य यावदविदं स्वात्मसत्सुखम् ॥ ८ ॥
यथा कश्चिदटन्भिक्षां निधानं स्वं न वेद वै ।
तथाहं स्वसुखाम्भोधिमविदित्वा पुनः पुनः ॥ ९ ॥
सुखं वैषयिकं श्रेष्ठं दुःखमङ्काभिसम्प्लुतम् ।
विद्युद्विलयनं मत्वा स्थिरं तत्परतावशात् ॥ १० ॥
दुःखैरभिहतो नूनं विश्रान्तिं न तु लब्धवान् ।
अहो जना दुःखसुखविवेकज्ञानवर्जिताः ॥ ११ ॥
सुखार्थिनो दुःखसङ्घं सञ्चिन्वन्ति मुधा सदा ।
तदलं दुःखभोगेन स्वयत्नासादितेन वै ॥ १२ ॥
प्रिये कृपां मयि कुरु प्रार्थयामि कृताञ्जलिः ।
विश्रान्तिमभिवाञ्छामि चिरं स्वस्मिन्सुखात्मनि ॥ १३ ॥
अहो दैवहता भासि ज्ञात्वापि त्वमिदं पदम् ।
तद्विश्रान्तिं परित्यज्य मुधा दुःखाय चेष्टसे ॥ १४ ॥
इत्युक्ता सा प्रियं प्राह स्मयित्वेषन्मनीषिणी ।
नाथ ते तन्न विदितं पदं परमपावनम् ॥ १५ ॥

दुनिया का यह बाहरी जंजाल गन्ने की छूँछी चूसने की तरह रसहीन है । इसकी अब मुझे कोई जरूरत नहीं है । अपनी बद-किस्मत की वजह से मैं तो अंधा हो गया था, इसी से आज तक आत्मस्थिति के इस सच्चे सुख की अनुभूति से वंचित रहा ॥ ८ ॥

अपने घर में रखे खजाने से अनजान कोई आदमी भीख माँगता हो, उसी तरह मैं अपने आत्मानन्दसागर को बिना जाने बार-बार आकाश में छिटकने वाली बिजली की तरह क्षणिक, दुनियावी दुःखद्वन्द्व से वासना-सुख को ही बहुत अच्छा और मजबूत समझता रहा और उसी के पीछे दिन-रात लगा रहने के कारण असली सुख या चैन नसीब न हो सका ॥ ९–१०½ ॥

ताज्जुब की बात है, बहुत सारे लोग भली-बुरी वस्तु का सही ज्ञान न होने की वजह से सुख पाने की चाह रहने के बावजूद बेकार ही बहुत सारी दुःखद वस्तुओं को ही इकट्ठा करते रहते हैं । अतः अपने ही प्रयास से प्राप्त दुःखभोगों की अब मुझे कोई जरूरत नहीं रह गयी है ।। ११–१२ ॥

प्रिये ! मैं हाथ जोड़कर तुमसे विनती करता हूँ । मुझ पर तुम दया करो । अब तो मैं आत्मा के आनन्दसागर में ही दिन-रात गोता लगाये चैन से रहना चाहता हूँ ॥ १३ ॥

अरी ! तुम तो मुझे बड़ी बदकिस्मत जान पड़ती हो, क्योंकि तुम इस आत्मानन्द को जानकर भी इसके सुख को छोड़कर बेकार ही दुःख भोगने के लिए तुम दुनियादारी में लगी रहती हो ॥ १४ ॥

यत्र स्थिता न मुह्यन्ति पण्डिताः पावनाशयाः ।
तत्पदं दूरतस्तेऽस्ति भूस्थस्येव नभस्तलम् ॥ १६ ॥
त्वया किञ्चित्सुविदितं भवेदविदितोपमम् ।
निमील्योन्मील्य वा नेत्रे तत्पदं न समीक्ष्यते ॥ १७ ॥
अकृत्वा वापि कृत्वा वा न तल्लभ्येत कर्हिचित् ।
अगत्वा चापि वा गत्वा न तदासादयेत्पदम् ॥ १८ ॥
निमील्य कृत्वा गत्वा वा प्राप्तं पूर्णं कथं भवेत् ।
यवाष्टकमितेनैव पक्ष्मणोन्मीलितेन तु ॥ १९ ॥
अन्तर्हितं यदि तदा ननु पूर्णं भवेत्पदम् ।
अहो ते मोहमाहात्म्यमाश्चर्यं किमहं ब्रुवे ॥ २० ॥
यस्मिन् ब्रह्माण्डकोटीनां कोटयः कोणसंस्थिताः ।
पक्ष्मणोऽङ्गुलिमानस्योन्मीलनात् तत्तिरोहितम् ॥ २१ ॥
शृणु राजकुमारैतत्तत्त्वसारं वदामि यत् ।
यावद् ग्रन्थिविभेदो न न तावत्सुखमृच्छति ॥ २२ ॥
ग्रन्थयः कोटिशः सन्ति मोहरज्जुविवर्त्तिताः ।
तत्र स्वरूपासंवित्तिर्मोहरज्जुरुदीरिता ॥ २३ ॥

पति के ऐसा कहने पर भले-बुरे की सही पहचान रखने वाली उस बाला ने मुस्कराते हुए कहा—मेरे जीवन ! अभी आपको उस पवित्र पद के बारे में पता ही क्या चला है ? ॥ १५ ॥

पवित्रहृदय पण्डित जन जहाँ पहुँचकर पुनः मोहग्रस्त नहीं होते, वह पद तो आपके लिए अभी उतना ही दूर है जितना धरती पर के लोगों के लिए आकाश ॥१६॥

आपने जिसे ठीक समझा है, वह तो नहीं समझने के बराबर है । वह पद तो आँखों को खोलने या मूँदने से नहीं दीखता ॥ १७ ॥

कुछ करने या न करने से भी वह पद कभी नहीं मिलता अथवा कहीं जाने या न जाने से भी उस पद की प्राप्ति नहीं होती है ॥ १८ ॥

जो चीज आँखें मूँदने से, कुछ करने से या कहीं जाने से ही मिलती है उसे भला पूरा या भरपूर कैसे कहा जा सकता है ? आठ जौ की छोटी पलक खुलते यदि कोई वस्तु गायब हो जाय तब तो वह अच्छा 'पूर्णपद' हुआ ? ताज्जुब की बात तो यह है कि आपके मोह की महिमा भी विलक्षण है । इस विस्मय के बारे में मैं क्या बोलूँ ? ॥ १९–२० ॥

जिसके कोने में करोड़ों ब्रह्माण्ड छिपे हैं, वह परम पद मात्र एक छोटी पलक के खुलते ही हो जाता है ? ॥ २१ ॥

सुनिए राजकुमार ! असलियत क्या है ? मैं आपको बतलाती हूँ । जब तक दिल की गाँठ नहीं खुलती तब तक आत्मा का आनन्द नसीब नहीं होता ॥ २२ ॥

यत्र ता ग्रन्थयः सन्ति विपरीतग्रहात्मकाः ।
तत्राद्या देहमुख्येषु भवेदात्मत्वनिश्चयः ॥ २४ ॥
यद्वशादेष संसार आततो दुष्प्रतिक्रियः ।
तथा जगत्यनात्मत्वबुद्धिर्भानसमाश्रये ॥ २५ ॥
एवं जीवेशभेदादिनिश्चया ग्रन्थयो मताः ।
एतच्चिरात्समुद्भूतं भूयः संवर्त्तितं च वै ॥ २६ ॥
ग्रन्थिरूपसमापन्नं पुरुषः पाशितस्ततः ।
तद्ग्रन्थिविस्रंसनतो बन्धान्मुक्तिः समीरिता ॥ २७ ॥
यत्त्वं निमील्य नेत्रे स्वे पदमासादयस्यलम् ।
तत्पदं निजरूपं ते शुद्धसंविदनुत्तरम् ॥ २८ ॥
तदेवाखिलसंसारचित्रादर्शतलं महत् ।
कदा क्व केन रूपेण नास्ति तन्मे निरूपय ॥ २९ ॥
यदा यद्रूपतो यस्मिन्नेति ब्रूयाः स्वसंविदम् ।
तर्हि तत्कालदेशादेर्वन्ध्यापुत्रत्वमेव हि ॥ ३० ॥

धोखे के इस धागे में करोड़ों गाँठें पड़ी हैं और अपनी आत्मा की सही पहचान न होने देने का कारण यही मोह की डोरी है ॥ २३ ॥

इसमें जो उलटी पकड़ वाली गाँठें हैं उनमें सबसे पहली है —देह को ही आत्मा समझने की भूल ॥ २४ ॥

जिसके कारण इस दुनिया का इतना बड़ा फैलाव है, जिससे छुटकारा पाना बड़ी मुश्किल है और यह तो आईने में परछाईं की तरह केवल आभास के सहारे टिके इस दुनिया में अनात्मबुद्धि अर्थात् जड़त्व का बोध होना है ॥ २५ ॥

इसी तरह जीव और ईश्वर में भेदबुद्धि प्रभृति अनेक गाँठें मानी गयी हैं। अपने असली रूप की पहचान के बारे में यह नासमझी शुरू में ही पैदा हुई और बार-बार उलझकर गाँठें बन गयीं। इसी में आदमी बंधा है। इस गाँठ के कटने पर ही जीव की बन्धन से मुक्ति कही गयी है ॥ २६–२७ ॥

अपनी आँखों को मूँदकर आपने जो भी कुछ पाया है, वह तो आपका ही अपना रूप है। आपने आत्मा के समस्त निरोधी पदार्थों का वर्जन किया और उसके बाद जो कुछ शेष बचा वह खालिस चेतना ही तो है ॥ २८ ॥

यही चेतना सारी दुनिया की तसवीर को प्रतिबिम्बित करनेवाली विशाल आईना है। मुझे केवल आप इतना ही बतला दें, वह कब, कहाँ और किस रूप में नहीं है ? ॥ २९ ॥

आप जहाँ, जिस रूप में और जिस जगह अपनी इस चेतना की कमी बतलायेंगे वह जगह और समय तो अनहोनी बात की तरह झूठ ही सिद्ध होगी ॥ ३० ॥

प्रतिबिम्बो निरादर्शो यथा नाथ तथैव तत् ।
तस्मात् तदृदसत्त्यागान्नास्ति कुत्रापि किञ्चन ॥ ३१ ॥
ततो नेत्रोन्मीलनेन किमन्तरिततामियात् ।
यावदेवं विजानामीत्येवं ग्रन्थिर्दृढा भवेत् ॥ ३२ ॥
तावन्न तत्पदं प्राप्तं यत्प्राप्तं स्यान्न तद्भवेत् ।
निमील्योन्मील्य वा नेत्रे यत्प्राप्तं मन्यसे परम् ॥ ३३ ॥
तन्न पूर्णपदं यस्मात् परिच्छेदात् क्रियादितः ।
कुत्र नाथ महासंविन्नास्ति कालानलप्रभा ॥ ३४ ॥
स्वात्मीकरोति यानल्पकल्पनेन्धनसञ्चयम् ।
न ते कर्त्तव्यसंशेषो विज्ञाय परमं पदम् ॥ ३५ ॥
त्यज ग्रन्थिं सन्निरुध्य पश्यामीति हृदि स्थिताम् ।
इदं नाहमिति ग्रन्थिमुन्मूल्य परां दृढाम् ॥ ३६ ॥

ओ मेरे मालिक ! जैसे आईने के बिना परछाईं नहीं बन सकती, उसी तरह अपनी आत्मा के बिना ये सब-के-सब झूठ हैं । अतः आत्मा के न रहने पर कहीं भी कुछ नहीं रहता । ऐसी स्थिति में आँखें खोलने या मूँदने से क्या अन्तर हो सकता है ॥ ३१½ ॥

जब तक ये गाँठें मजबूत बनी हैं; जब तक आप यह सोचते रहेंगे कि इस प्रयास से मैंने अपनी आत्मा को पा लिया है तब तक वह नहीं मिल सकती है । क्योंकि जो किसी प्रयास से मिलती है, वह आत्मा नहीं हो सकती ॥ ३२½ ॥

आँखें खोलने या मूँदने से जिसे आप पाना समझते हैं वह पूर्ण पद नहीं हो सकता । क्योंकि उसका तो क्रिया-विशेष से विभाजन हो जाता है ॥ ३३½ ॥

सब कुछ निगल जानेवाली कालरूपी आग की तरह यह विशाल चेतना भला कहाँ नहीं है नाथ, जो इस तुच्छ जलावन की ढेर को अपने में लीन कर लेती है ॥ ३४½ ॥

विशेष—स्वयं के द्वारा स्वयं का ज्ञान ही महासंविद् है, पूर्ण या शुद्ध चेतना है । इस बोध में न कोई ज्ञाता होता है और न ज्ञेय, मात्र ज्ञान की शुद्ध शक्ति ही शेष रह जाती है । उसका स्वयं से स्वयं का प्रकाशित होना प्रज्ञा या चेतना है । ज्ञान का यह स्वयं पर लौट आना मनुष्य-चेतना की सबसे बड़ी क्रान्ति है । इस क्रान्ति से ही मनुष्य स्वयं से सम्बन्धित होता है और जीवन के प्रयोजन और अर्थवत्ता का उसके समक्ष उद्घाटन होता है । अर्थात् जब यह चेतना उदित होती है तो सारी दुनिया आग की तरह प्रतीत होने लगती है । इससे अलग न कोई देश रहता है और न कोई काल; सब कुछ तन्मय हो जाता है ।

उस आत्मा को जान लेने के बाद अब आपको कुछ भी करने को बचा नहीं है । तो अपनी चित्तवृत्ति को रोक कर हृदय में मौजूद उस आत्मतत्त्व से मुलाकात

पश्य सर्वत्र चात्मानमखण्डानन्दबृंहितम् ।
पश्यात्मन्यखिलं लोकं दर्पणप्रतिबिम्बवत् ॥ ३७ ॥
सर्वत्राखिलमात्मानमिति भूयो न भावयन् ।
शेषमभ्युपगम्यान्तःस्वस्थो भव निजात्मना ॥ ३८ ॥
इति प्रियोदितं श्रुत्वा हेमचूडः सिताशयः ।
विदित्वा पूर्णमात्मानं सर्वत्र भ्रान्तिवर्जितः ॥ ३९ ॥
क्रमात् पूर्णसमावेशासादनात् स्थिरभावनः ।
विहरन् सर्वदा हेमलेखादियुवतीगणैः ॥ ४० ॥
शासन् राज्यं समृद्धं स्वं जित्वा शत्रुगणं रणे ।
शास्त्राणि श्रावयन् शृण्वन्नर्जयन् धनसञ्चयम् ॥ ४१ ॥
अश्वमेधराजसूयाद्यैर्यजन् क्रतुमुख्यकैः ।
वर्षाणामयुते द्वे वै जीवन्मुक्तो भुवि स्थितः ॥ ४२ ॥
जीवन्मुक्तदशासंस्थं निशाम्य तनयं नृपः ।
मुक्ताचूडश्च तद्भ्राता मणिचूडोऽप्यचिन्तयत् ॥ ४३ ॥
किमयं पूर्ववन्नेह लक्ष्यते सर्वथा किल ।
सुखे न हृष्यत्यत्यन्तं दुःखे नोद्विजते तथा ॥ ४४ ॥

कर रहा हूँ'—इस गाँठ को खोल दीजिए । 'मैं यह नहीं हूँ'—यह गाँठ भी बड़ी मजबूत है, इसे भी काट डालिए ॥ ३५–३६ ॥

हर जगह उस आनन्दमय अखण्ड आत्मा को ही देखिए । दुनिया के सारे जंजालों को आईने में प्रतीत होनेवाली परछाई की तरह अपनी आत्मा में चमकते देखिए ॥३७॥

हर जगह केवल आत्मा ही है—ऐसा खयाल भी मत कीजिए । इस तरह सारे विचारों को छोडकर जो शेष रह जाय, उसे ही अपना असली रूप मानकर उसमें स्थिर हो जाइए ॥ ३८ ॥

अपनी पत्नी का भाषण सुनकर हेमचूड़ का मन बिलकुल पवित्र हो गया । आत्मा को सब जगह पूरा समझ कर उसके मन की सारी भूल दूर हो गई ॥ ३९ ॥

उस परवरदिगार के असली रूप में धीरे-धीरे उसके मन की स्थिति स्थिर हो गई । अब वह हमेशा हेमलेखा प्रभृति युवतियों के साथ रतिक्रीड़ा करते हुए, दुश्मनों को लड़ाई के मैदान में पराजित करते हुए, प्रभुत्वसम्पन्न राज्य का शासन करते हुए, शास्त्र सुनते-सुनाते हुए, संचित धन से अश्वमेध, राजसूय जैसे बड़े-बड़े यज्ञ करते हुए, बीस हजार साल तक जीवन्मुक्त अवस्था में इस धरती पर रहा ॥ ४०–४२ ॥

अपने बेटे को जीवित दशा में ही आत्मज्ञान द्वारा सांसारिक माया-बन्धन से छूटे, वीतराग देखकर राजा मुक्ताचूड़ ने और उसके छोटे भाई मणिचूड़ ने भी विचार किया ॥ ४३ ॥

लाभालाभौ शत्रुमित्रे साम्यात्पश्यति वै कुतः ।
करोति राजकार्याणि नटवद्रङ्गमण्डले ॥ ४५ ॥
कापिशायनपायीव सदा मत्तोऽभिलक्ष्यते ।
सदान्यत्र गतस्वान्त इव कृत्यङ्करोत्यलम् ॥ ४६ ॥
तत्केन हेतुना चेति तमासाद्य रहः क्वचित् ।
अपृच्छतां हेमचूडं कुत एवं भवानिति ॥ ४७ ॥
ततः स्वस्थितिमाचख्यौ हेमचूडस्तयोः क्रमात् ।
तावुभौ भ्रातृपितरौ हेमचूडेन बोधितौ ॥ ४८ ॥
आसादितपरतत्त्वौ जीवन्मुक्तौ बभूवतुः ।
अथ मन्त्रिगणोऽप्येवं राज्ञः श्रुत्वा जगद्गतिम् ॥ ४९ ॥
विचार्य स्वात्मनो भावं ज्ञातज्ञेयोऽभवत्तदा ।
एवं विशालनगरे क्रमेणैव परस्परम् ॥ ५० ॥
उपदेशाद्विदुः सर्वे तत्त्वमाबालगोपकाः ।
नरा नार्यो बालवृद्धा दासा दासीगणा अपि ॥ ५१ ॥
ज्ञातज्ञेयास्त्यक्तदेहाहम्भावा अभवन् खलु ।
न तत्र कस्यचित्कामः क्रोधो वा लोभ एव वा ॥ ५२ ॥

अब यह हेमचूड़ पहले की तरह बिलकुल दिखायी नहीं देता, इसकी वजह क्या [illegible] यह न तो सुख में ज्यादे खुश होता है और न दुःख में उदास ही होता है ॥४४॥

अब यह नफा-नुकसान और दोस्त-दुश्मन को बिलकुल बराबर की नजर से क्यों [illegible] लगा है ? आजकल राज्य का सारा काम यह रंगभूमि में नाटक के पात्र की [illegible] निभा रहा है ॥ ४५ ॥

यह एक शराबी की तरह हमेशा अपने-आप में मस्त दीखता है । यह अपने समस्त [illegible] का सही ढंग से निर्वाह करता है, पर लगता है जैसे इसका मन इससे भिन्न [illegible] और टिका है ॥ ४६ ॥

उसकी वजह क्या है ? यह सोचकर एक दिन एकान्त में उसने हेमचूड़ से पूछा — [illegible] हालत तुम्हारी कैसे हुई ? ॥ ४७ ॥

हेमचूड़ ने उन दोनों को सिलसिलेवार ढंग से अपनी सारी स्थिति के बारे में सब [illegible] दी । हेमचूड़ के बोध कराने पर उसके पिता और चाचा दोनों ही उस परम [illegible] को पाकर वीतरागी बन गये ॥ ४८½ ॥

इस तरह फिर मंत्रियों ने भी राजा से दुनिया के असली रहस्य को समझ लिया । [illegible] भी आत्मतत्त्व पर विचार किया । फिर इस सम्बन्ध में जो कुछ जानने लायक [illegible] थी, उन्हें जान लिया ॥ ४९½ ॥

इस तरह उस मशहूर शहर में बच्चे से लेकर ग्वाले तक क्रमशः सब एक-दूसरे [illegible] लेकर आत्मतत्त्व को समझ गये ॥ ५०½ ॥

अनाहूतोऽस्ति बालस्य स्थविरस्यापि वा क्वचित् ।
आहूतक्रोधकामाद्यैर्व्यवहारपरायणाः ॥ ५३ ॥
बालं माता खेलयति परतत्त्वस्य वार्तया ।
दासा दास्यः स्वामिनं स्वं सदा परिचरन्ति वै ॥ ५४ ॥
परतत्त्वपरैर्वाक्यैर्व्याहरन्तः परस्परम् ।
नटा नाट्यं वितन्वन्ति पात्रैस्तत्त्वप्रसङ्गजैः ॥ ५५ ॥
विवेकवार्तापरमं वचो गायन्ति गायकाः ।
विदूषका दूषयन्ति लोकव्यवहृतिं सदा ॥ ५६ ॥
शास्त्राणि पाठयन्ति स्म विद्वांसः पाठकान् जनान् ।
परतत्त्वविचारार्हैरुदाहरणमण्डलैः ॥ ५७ ॥
एवं तत्र नरा नार्यो दासा दास्यो नटा विटाः ।
भृत्या भटा मन्त्रिणश्च शिल्पिनो वारयोषितः ॥ ५८ ॥
सर्वे वेदितवेद्यास्ते विशालनगरेऽभवन् ।
प्राक्संस्कारबलेनैव व्यवहारपरायणाः ॥ ५९ ॥
न संस्मरति संवृत्तं शुभं वाप्यशुभं तथा ।

औरत-मर्द, बच्चे-बूढ़े, नौकर-नौकरानी भी जानने लायक बातों को जानकर 'यह देह ही मैं हूँ' इससे छुटकारा पा लिये। वहाँ बच्चे से बूढ़े तक सब काम, क्रोध और लोभ से छुटकारा पा लिये। अपने काम-क्रोध को संयत रखकर ही ये सब दुनिया के व्यवहार का सम्पादन करते थे ॥ ५१–५३ ॥

माँ अपने-अपने बच्चों को उस परम तत्त्व की बातों से ही मन को बहलाती थीं। नौकर-चाकर भी उस आत्मतत्त्व की चर्चा करते हुए ही मालिक की सेवा में लगे रहते थे। अभिनेतागण तात्त्विक प्रसंग अर्थात् मोह, विवेक, ज्ञान जैसे पात्रों से ही अभिनय करवाते थे ॥ ५४–५५ ॥

गवैये विवेक से भरे गीत ही गाया करते थे। मसखरे लोकाचार की खिल्ली उड़ाया करते थे ॥ ५६ ॥

विद्वान् गुरु छात्रों को आत्मतत्त्व के विचार-पोषक उदाहरणों से भरे शास्त्रों का अध्ययन कराते थे ॥ ५७ ॥

इस तरह उस महानगरी के औरत-मर्द, नौकर-नारी, नट, मसखरे, सेवक, सिपाही, सचिव, कारीगर और वेश्याएँ जानने योग्य आत्मतत्त्व की जानकारी हासिल कर ली ॥ ५८½ ॥

अपने पूर्व संस्कारों के मुताबिक लोकाचार करते हुए भी उन्हें अपने-अपने कामों मे मंगल या अमंगल का बोध नहीं होता। अर्थात् उनकी सारी क्रियाएँ बच्चों के काम की तरह बिलकुल प्राकृतिक होती थीं ॥ ५९½ ॥

भविष्यं नानुसन्धत्तं हर्षशोकादिसाधनम् ॥ ६० ॥
वर्तमाने स्मर्यन् हृष्यन् खिद्यन् क्रुध्यन्निवान्वहम् ।
मधुक्षीब इवात्यन्तं व्यवहारपरो जनः ॥ ६१ ॥
एवंविधं तन्नगरं ऋषयः सनकादयः ।
प्रसिद्धविद्यानगरमित्याख्यमूचुरागताः ॥ ६२ ॥
यत्र कीराः पञ्जरस्था अपि वाचो वदन्ति वै ।
चितिरूपं स्वमात्मानं भजध्वं चेत्यवर्जितम् ॥ ६३ ॥
नास्ति चेत्यं चितेरन्यद् दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।
चितिश्चेत्यं चितिरहं चितिः सर्वं चराचरम् ॥ ६४ ॥
यतः सर्वं चितिमनु भाति सा तु स्वतन्त्रतः ।
अतश्चितिं जनाः सर्वभासिनीं सर्वसंश्रयाम् ॥ ६५ ॥
भजध्वं भ्रान्तिमुत्सृज्य चितिमात्तं सुदृष्टयः ।
तिर्यञ्चोऽप्येवमत्यन्तं यत्र वाचो वदन्ति वै ॥ ६६ ॥
प्रसिद्धविद्यानगरं तदद्यापि प्रचक्षते ।
एवं तत्र पुरा हेमलेखया खलु बोधितः ॥ ६७ ॥
हेमचूडोऽभवद्विद्वाञ्जीवन्मुक्तस्तथेतरे ।
स्त्रीबालप्रमुखाः सर्वे जाता ज्ञातपरावराः ॥ ६८ ॥

[illegible] उस होनी पर कभी सोचते ही नहीं जिसकी वजह से सुख या दुःख की कल्पना [illegible]। मौजूदा समय में प्रसंग के अनुसार मुस्कराते, खुश होते, खिन्न होते, गुस्साते [illegible], पर मदहोश की तरह हमेशा काफी लोकाचार करते थे ॥ ६०–६१ ॥

एक बार सनकादि ऋषि उस महानगर में पधारे। उन्होंने वहाँ से प्रभावित [illegible] इसका नाम 'विद्यानगर' रख दिया ॥ ६२ ॥

वहाँ पिंजरे में बद्ध तोते भी पढ़ा करते—'चिन्तन-शून्य चिन्मात्र अपनी आत्मा [illegible] ही भज' ॥ ६३ ॥

आईने में परछाई की तरह चैत्य पदार्थ चिन्मात्र से भिन्न नहीं है। चिन्मात्र ही [illegible] है। चिति ही मैं हूँ। चिति ही अखिल ब्रह्माण्ड है। क्योंकि इन सबका बोध [illegible] से ही होता है और चिति स्वयं प्रकाश है ॥ ६४½ ॥

अतः लोगो! भूल छोड़कर केवल चिति पर नजर रखते हुए सबको प्रभावित [illegible] और सबका आधार चिति को ही भजो ॥ ६५½ ॥

[illegible] चिड़ियाँ भी इस तरह बोलती हैं, वह विद्यानगर आज भी देखा जा [illegible] है ॥ ६६½ ॥

[illegible] तरह पहले यहाँ हेमलेखा द्वारा ज्ञान पाने वाला उसका पति हेमचूड़ नाम [illegible] वेत्ता वीतराग राजा हुआ। इसके बाद स्त्री और बालक तक दूसरे लोग भी [illegible] परतत्त्व को जान गये ॥ ६७–६८ ॥

तस्माच्छ्रेयोनिदानं तु सत्सङ्गः प्रथमं भवेत् ।
तस्माच्छ्रेयोवाञ्छने तु सत्संश्रयपरो भवेत् ॥ ६९ ॥

इति श्रीमज्ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने दशमोऽध्यायः ।

अतः कल्याण का प्रमुख कारण है — भले लोगों की संगति । इसलिए जि आत्म-कल्याण की कामना हो, उन्हें साधुओं की संगति में रहना चाहिए ॥ ६९ ॥

दशवाँ अध्याय समाप्त ।

एकादशोऽध्यायः

श्रुत्वेवं हेमचूडस्य कथामत्यद्भुतां तदा ।
भार्गवः सन्दिग्धमनाः प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ १ ॥
भगवन् श्रीगुरो यत्ते प्रोक्तं ज्ञानं महाद्भुतम् ।
भाति मे विषमं ह्येतदसाध्यं चापि सर्वतः ॥ २ ॥
कथमेतज्जगद्दृश्यं चितिमात्रस्वरूपकम् ।
अदृष्टं केवलं ह्येतच्छ्रद्धोपेयं न चान्यथा ॥ ३ ॥
चितिश्चेत्यविनिर्मुक्ता नानुभाव्या कथञ्चन ।
नोपपन्नं सर्वथैतत्कथं चित्तं समारुहेत् ॥ ४ ॥
कृपया बोधनीयोऽहमत्र सर्वात्मना खलु ।
इत्यापृष्टो दत्तगुरुरवदद्भार्गवं प्रति ॥ ५ ॥
शृणु राम प्रवक्ष्यामि दृश्यतत्त्वं यथास्थितम् ।
एतद् दृश्यमशेषं तु दृशिमात्रं न चेतरत् ॥ ६ ॥
अत्रोपपत्तिं वक्ष्यामि शृणु सम्यक्समाहितः ।
एतद् दृश्यं कार्यभूतमुत्पत्तेरुपलम्भतः ॥ ७ ॥

(संसार के स्वरूप का विवेचन)

हेमचूड़ की ऐसी विलक्षण कहानी सुनकर परशुराम के मन में कुछ संशय हुआ। उन्होंने इस पर सवाल पूछना शुरू किया ॥ १ ॥

मान्य गुरुदेव ! आपने आत्मा के बारे में जो अभी विलक्षण जानकारी दी है, वह मेरी समझ में बिलकुल विकट और मुश्किल ही मालूम पड़ती है ॥ २ ॥

जिस संसार को मैं अपनी आँखों से देखता हूँ, उसे भावनात्मक अर्थात् केवल महसूस करने लायक चेतना या ज्ञानस्वरूप कैसे मान लूं ? यह बात देखकर तो नहीं कही जा सकती है, केवल आस्था से मानी जा सकती है, अन्यथा नहीं ॥ ३ ॥

देह से अलग आत्मा तो अनुभव में भी किसी तरह आ नहीं सकती। यह बात किसी भी तरह जँचती नहीं तो फिर मन में कैसे बैठ सकती है ? ॥ ४ ॥

'गुरुदेव ! दया कर ये सारी बातें ठीक से मुझे समझाने का कष्ट करें।' इस तरह पूछने पर गुरु दत्तात्रेय ने परशुराम से कहा — ॥ ५ ॥

सुनो परशुराम ! मैं तुम्हें ठीक ढंग से इस नजारा का मर्म समझाता हूँ। यह सारा नजारा एक नजरभर भर है और कुछ नहीं ॥ ६ ॥

मैं इसकी तरकीब समझाता हूँ, पूरे सावधान होकर सुनो। यह नजारा किसी का काम है; क्योंकि इसकी पैदाइश देखी जाती है ॥ ७ ॥

उत्पत्तिर्नूतनाभासः प्रतिक्षणमिदं जगत् ।
नूतनत्वेनैव भाति तत्क्षणोत्पत्तिमज्जगत् ॥ ८ ॥
केचित् प्राहुर्जगदिदमखण्डैकक्षणोद्भवम् ।
अन्ये पदार्थसङ्घातमयं स्थिरचरात्मकम् ॥ ९ ॥
सर्वथा तु समुत्पत्तिमदित्येव विनिश्चितम् ।
तत्र स्वभाववादस्तु नोचितोऽतिप्रसङ्गतः ॥ १० ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणनिश्चयात् ।
संवादतः प्रवृत्तीनां कथमाकस्मिकं भवेत् ॥ ११ ॥
क्वचित्तु कारणेऽदृष्टेऽप्यदृष्टं कल्प्यमेव तत् ।
बहूनामनुरोधो हि न्याय्यः सर्वैरुदाहृतः ॥ १२ ॥
भूयो दृष्टं सपूर्वं हि कार्यं क्वचिददर्शने ।
दृष्टवत्परिकल्प्यं स्यादन्यथा सार्वलौकिकी ॥ १३ ॥
सम्प्रवृत्तिर्विरुध्येत तस्मात् सर्वं सकारणम् ।
अत एव कार्यहेतोः किञ्चित्कारणतत्परः ॥ १४ ॥

नये रूप में किसी वस्तु का प्रतीत होना ही उसकी पैदाइश कहलाती है और यह दुनिया प्रतिपल परिवर्तित ही नजर आती है। अतः यह हर पल पैदा होनेवाली हुई।

कुछ लोग इस संसार को पल-पल पैदा होनेवाला, किन्तु अनादि काल से बेरोक वंश-परम्परा मानते हैं और कुछ लोग इसे अविनाशी और नाशवान् पदार्थों का समूह मानते हैं ॥ ९ ॥

पर हर हालत में इतना तो निश्चित है कि यह पैदा होनेवाला है और पैदाइश में स्वतः उत्पन्न होने की बात मानी नहीं जा सकती है ॥ १० ॥

विशेष — इतनी बात निश्चित है कि बिना उपादान कारण के किसी की उत्पत्ति संभव नहीं है। किसी-न-किसी विशेष उपादान कारण से किसी विशेष कार्य की उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा न हो तो घट-पटादि की उत्पत्ति के उपादान कारण मिट्टी या धागा कैसे हो ?

अन्वय-व्यतिरेक से भी कार्य-कारणभाव का ही निश्चय होता है। इस नियम में कभी कोई अन्तर भी नहीं पड़ता है। ऐसी स्थिति में वह अनियमित कैसे हो सकता है ? ॥ ११ ॥

किसी कार्य में कारण दिखलाई नहीं पड़ता, वहाँ अनदेखे कारण का अनुमान कर लेना चाहिए। क्योंकि जिसका बहुमत होता है, उसे स्वीकार करना सबके लिए न्याय-संगत कहा गया है ॥ १२ ॥

अधिकांश कार्य के कारण तो स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। पर कुछ कार्य ऐसे हैं जिनके कारण साफ-साफ दिखलाई नहीं पड़ते। ऐसी स्थिति में दूसरी जगह देखे गये कारण की तरह इसके कारण की कल्पना कर लेनी चाहिए। नहीं तो सर्वत्र प्रचलित प्रवृत्ति का विरोध होगा। अतः कारणपूर्वक कार्य सब तरह से मान्य है ॥ १३ ॥

सर्वत्र दृश्यते लोकस्तस्मादेतन्न किञ्चन ।
केचिदाहुरसत्कल्पैरणुभिः कार्यमुद्यतम् ।। १५ ।।
तेभ्योऽत्यन्तं विभिन्नं चाप्यसदत्यन्ततो भवेत् ।
असत्सतोरेकता हि विरुद्धा न कुतो भवेत् ।। १६ ।।
न हि पीतमपीतं च प्रकाशं चाप्रकाशकम् ।
एकं भवेद्विरुद्धत्वात् साङ्कर्यादिप्रसक्तितः ।। १७ ।।
ईश्वरेच्छादितो वापि कथमादिक्रियोद्भवः ।
गुणसाम्यप्रकृतिकं जगदित्यप्यसम्भवि ।। १८ ।।
वैषम्यहेतोर्मृग्यत्वात् साम्यहेतोश्च हीनतः ।
चेतनेनानधिष्ठानाद् दृष्टान्तानुपलम्भतः ।। १९ ।।
तस्माज्जागतकार्यस्य कारणं नोपलभ्यते ।
अदृष्टे तु श्रुतिर्मूलं नान्यमानसुसङ्गमः ।। २० ।।

अतः जब किसी को कुछ काम करना होता है तो हर जगह पहले लोग साधन जुटाने में लग जाते हैं । अतः किसी के तासीर से कुछ नहीं होता ।। १४½ ।।

कुछ के विचार में दुनिया का रूप अगर कार्य ही है तो फिर इसका निर्माण मूल प्रकृति एवं जड़ परमाणुओं से हुआ है । किन्तु संसार का रूप तो व्यक्त है, फिर अव्यक्त और व्यक्त तो दोनों बिलकुल भिन्न है । माना, संसार की भी अंतिम परिणति भी तो अव्यक्त ही है । फिर भी यहाँ तो सत् और असत् की एकरूपता बतलाई गई है, यह कैसे संभव है ? ।। १५–१६ ।।

पीला और लाल या उजाला और अँधेरा कभी एक नहीं हो सकते, क्योंकि ये आपस में एक-दूसरे के विरोधी हैं । अगर ऐसा मान भी लिया जाय तो संकरदोष की संगति होगी ।। १७ ।।

विशेष— एक ही वस्तु दो विरोधी तत्त्वों का अन्तर्मिश्रण सङ्करदोष है । यहाँ दो विरोधी धर्म सत्-असत्, रूप-अरूप और अस्तित्व-अनस्तित्व का साङ्कर्य दीख पड़ता है । दार्शनिकों ने परमाणुओं को निरवयव माना है । फिर निरवयव का सावयव की तरह संयोग होना संभव नहीं है । अतः यह कल्पना दुरूह एवं असंगत ही परशुराम को प्रतीत होती है ।

ईश्वर की इच्छा से शुरू में ही जड़ प्रकृति की क्रियाशीलता भला कैसे मानी जा सकती है ? यदि गुणों की सामान्य अवस्था रूप प्रकृति संसार का भाव है—तो यह बात भी मानने योग्य नहीं है ।। १८ ।।

इसके लिए संसार की उत्पत्ति काल में जो प्रकृति के गुणों में विरोध दीखता है, उसकी वजह ढूँढना होगा और विश्वास में जो उलट-पुलट दीखती है उसका भी तो कोई कारण नहीं दीखता है । फिर ऐसा कोई उदाहरण भी नहीं मिलता है कि चेतना के बिना भी किसी जड़ पदार्थ में कोई क्रिया उत्पन्न हो जाय ।। १९ ।।

प्रमातॄणामपूर्णत्वात्प्रमाणस्यानवस्थितेः ।
कार्यकर्तृवियोगस्य भूयोऽदर्शनहेतुतः ॥ २१ ॥
सकर्तृकं जगदिदं सम्भवाच्चेतनो हि सः ।
कार्यस्याचिन्त्यरूपस्य कर्त्ता साधारणः कथम् ॥ २२ ॥
तस्मादचिन्त्यशक्तिः स आगमस्तद्विमर्शनम् ।
पूर्णस्य त्वप्रतिहतं प्रमाणं सर्वतोऽधिकम् ॥ २३ ॥
तत्रैकस्तु महेशानः पुरा सृष्टेरुदाहृतः ।
स्वतन्त्रो ह्यनुपादानः स्वातन्त्र्यभरवैभवात् ॥ २४ ॥
स्वात्मभित्तौ जगच्चित्रं विलासायावभासयत् ।
यथा स्वप्नमनोराज्ये कल्पितं स्वेन केवलम् ॥ २५ ॥

इस तरह संसार रूपी कार्य का कोई कारण तो साफ-साफ दिखलाई नहीं पड़ता और अनदेखे कारण का फैसला करने में वेद के मूल प्रमाण के अलावा कोई दूसरा प्रमाण मान्य नहीं हो सकता है ॥ २० ॥

क्योंकि जानकारी पानेवाला चेतन पुरुष तो अधूरा है। किसी भी सबूत की पहुँच भी उस अनदेखे कारण तक नहीं है और ऐसा कहीं भी देखा नहीं जाता कि काम करनेवाला तो कोई न हो, पर काम हो जाय। अतः यह दुनिया भी किसी बनानेवाले के द्वारा ही बनी है और संभव होने के कारण इस दुनिया को बनानेवाला भी कोई चेतन ही होगा। दुनिया का काम बड़ा ही विलक्षण है, अतः इसको बनाने वाला भी साधारण कैसे हो सकता है? ॥ २१–२२ ॥

इसलिए उसके पास बे-अन्दाज ताकत है और उसकी असलियत को बतलानेवाला है—वेदशास्त्र। यही उस असलियत को जाननेवाला बे-रोक सबसे बड़ा सबूत भी है ॥ २३ ॥

विशेष—संसार के सभी बड़े-से-बड़े या छोटे-से-छोटे व्यवहार अपनी-अपनी जगह पर प्रश्न और प्रतिवचन ही हैं। प्रत्येक क्रिया का रूप तब तक प्रश्न है, जब तक वह पूरी होकर निरपेक्ष रूप में विश्रान्त न हो जाय। इसीलिए यहाँ सृष्टि के कारण को मुख्य प्रश्न नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि सृष्टि का कारण परोक्ष है और परोक्ष में इन्द्रियों की गति हो ही नहीं सकती। अतः इसे किसी भी स्थिति में प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं बनाया जा सकता। जहाँ तक अनुमान का प्रश्न है, वह तो स्पष्टतः प्रत्यक्षमूलक ही होता है। अतः जहाँ प्रत्यक्ष नहीं है वहाँ अनुमान की कल्पना ही नहीं हो सकती है। अतः यहाँ वह अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न सत्ता किसी अन्य प्रमाण का विषय नहीं बन सकती है।

उस वेद में कहा गया है कि इस सृष्टि से पहले एकमात्र वे महेश्वर ही थे। उस बिलकुल बे-नियाज़ परवरदिगार ने बिना किसी दूसरी चीज की सहायता से अपनी स्वतन्त्रता की श्रेष्ठता की महिमा से ही केवल अपने मनोविनोद के लिए अपने ही स्वरूप की भीत पर इस संसार की तसवीर को खींच दिया है ॥ २४½ ॥

अहन्त्वेनैव गृह्णाति देहं तद्वदयं जगत् ।
न ते रूपं यथा देहः स्वप्नव्यावृत्तिहेतुतः ॥ २६ ॥
तथास्य न जगद्देहो व्यावृत्तेः प्रलये ननु ।
देहादिव्यतिरिक्तस्त्वं यथा केवलचिन्मयः ॥ २७ ॥
एवं देवो जगच्छून्यचिदेकवपुरव्ययः ।
तेनेदं स्वात्मनि जगच्चित्रमुन्मीलितं ननु ॥ २८ ॥
क्वोन्मीलयेज्जगच्चित्रं स्वान्यस्य क्वाप्यसम्भवात् ।
ऋते चितिं कदाचिद्वा क्व किं भवितुमर्हति ॥ २९ ॥
यत्राभावश्चितेर्ब्रूयात्स देशो नैव सिध्यति ।
अभावश्च चितेः केन सिध्येदस्माच्चितिः परा ॥ ३० ॥
महासत्ता जगद्ग्रासशीला पूर्णाविभासते ।
समुद्रमन्तरा तोयं दिवानाथं विना प्रभाः ॥ ३१ ॥
यथा न सन्ति तद्वद् वै संविद्रूपं विना जगत् ।
तस्मादेष महादेवः शुद्धचैतन्यविग्रहः ॥ ३२ ॥
आसीत्सृष्टेः पुरा तस्मादुत्पन्नं तत्र संस्थितम् ।
तस्मिन्विलीयते चान्ते जगदेतच्चराचरम् ॥ ३३ ॥

जैसे सपने में मन की कल्पना में गढ़ी नकली देह को लोग अपना असली रूप मान लेते हैं, वैसी ही यह सारी दुनिया है ॥ २५½ ॥

किन्तु सपना टूटते ही जैसे मन की काल्पनिक देह स्वप्नद्रष्टा का अपना रूप नहीं रहता, उसी तरह प्रलय काल में दुनिया मिट जाने के कारण यह परमात्मा की देह नहीं रहती ॥ २६½ ॥

देहादि के अलावा जैसे तुम केवल चैतन्य रूप हो, ठीक उसी तरह भगवान् भी इस दुनिया से रहित एकमात्र कभी विनष्ट न होनेवाले चित्स्वरूप ही हैं। उन्होंने अपने पर ही इस संसार का खाका खींचा है ॥ २७–२८ ॥

उनसे अलग कहीं कुछ है भी नहीं, अतः इस दुनिया का खाका खींचा भी कहाँ जाता ? उस परमात्मा के सिवा कभी, कोई, कहीं क्या हो सकता है ? ॥ २९ ॥

उस चैतन्य के बिना कोई जगह साबित नहीं की जा सकती। क्योंकि बिना चैतन्य के उसके न होने की बात साबित कैसे होगी ? इसलिए चैतन्य ही परमात्मा है ॥ ३० ॥

इस तरह सारी दुनिया को अपना निवाला बनानेवाली वह महान् हस्ती ही तो हर जगह दीख रही है। जैसे समुद्र के बिना पानी और सूरज के बिना उजाले का अस्तित्व नहीं है, उसी तरह चिन्मात्र के बिना संसार की सत्ता नहीं है ॥ ३१½ ॥

इस दुनिया की पैदाइश के पहले पवित्र ज्ञान के रूप में परमात्मा ही तो थे। यह जड़ और चेतन संसार उन्हीं से उत्पन्न हुआ है, उन्हीं में मौजूद है और उन्हीं में विलीन हो जायेगा ॥ ३२–३३ ॥

इत्यागमप्रसिद्धोऽर्थस्तत्र विप्रतिपद्यते ।
अदृष्टार्थेषु संवादात्प्रमाणं ह्यागमो भवेत् ॥ ३४ ॥
दृश्यन्ते मणिमन्त्रादिसिद्धयः सर्वतो यतः ।
नाल्पप्रज्ञो विजानीयान्मणिमन्त्रमहाफलम् ॥ ३५ ॥
तस्मात्सर्वज्ञगदितो ह्यागमः सर्वदर्शनः ।
तत्रोक्तो देव एवादौ सृष्टेर्जगत आस्थितः ॥ ३६ ॥
निरुपादान एवादौ सृष्टवानखिलं जगत् ।
यस्मान्महेश्वरः पूर्णस्वच्छस्वातन्त्र्यसंयुतः ॥ ३७ ॥
चिदात्मभित्तावखिलं चित्रमुन्मीलयज्जगत् ।
न तज्जगत्सम्भवति बहिः क्वचिदवस्थितम् ॥ ३८ ॥
पूर्णत्वादीश्वरस्येह स्थानमन्यन्न विद्यते ।
अन्यस्थानस्थितं तच्च कथञ्चिन्नैव सिध्यति ॥ ३९ ॥
तथा च दर्पणाभोगे प्रतिबिम्बवदेव हि ।
जगदुन्मीलितं देवे चैवं सर्वं समञ्जसम् ॥ ४० ॥
जगदादेर्हि देवस्य योगीव जगतः क्रिया ।
सङ्कल्पनगरप्रख्या सृष्टिर्देवस्य सम्मता ॥ ४१ ॥

यही श्रुतिसम्मत सिद्धान्त है । इसमें किसी तरह के संदेह की गुञ्जाइश नहीं है । क्योंकि जहाँ अनदेखी वस्तु के बारे में शंका होती है, वहाँ वेदवाक्य ही प्रमाण माना जाता है ॥ ३४ ॥

मणि और मंत्र से मिलनेवाली सिद्धियाँ तो हर जगह देखी जा सकती हैं । इनकी बेहतरी कोई कम अक्ल प्राणी भला कैसे जान सकता है ? ॥ ३५ ॥

अतः सब कुछ जाननेवाले उस परमात्मा का कहा हुआ वेद ही इसके बारे में सबसे बड़ा सबूत है । उसी वेद में यह उल्लेख मिलता है कि सृष्टि से पूर्व केवल परमात्मा का ही अस्तित्व था ॥ ३६ ॥

बिना किसी वस्तु का सहारा लिए ही उसने शुरू में संसार की रचना की, क्योंकि वह बेनियाज, बेनजीर और सर्वशक्तिसम्पन्न है ॥ ३७ ॥

उन्होंने अपनी ही चेतना स्वरूप देह की दीवार पर दुनिया का खाका खींचा है । अतः यह दुनिया उससे बाहर कहीं हो ही नहीं सकती ॥ ३८ ॥

क्योंकि परमात्मा ही पूर्ण है । उससे अलग तो कोई जगह है ही नहीं । उससे भिन्न स्थान की सिद्धि किसी भी स्थिति में नहीं हो सकती ॥ ३९ ॥

इसलिए जैसे आइने में परछाई दीख पड़ती है, उसी तरह परमात्मा में संसार देख पड़ना'—ऐसा मान लेने पर सबका औचित्य समझ में आ जाता है ॥ ४० ॥

दुनिया का पहला कारण भगवान् का यह दुनियावी काम भी एक योगी की तरह है । योगी जैसे संकल्प मात्र से नगर की रचना करता है, वैसी ही यह दुनिया की भी रचना है ॥ ४१ ॥

राम ते मानसी सृष्टिर्मनोमय्येव केवला ।
अनेकमातृमेयादिप्रचुरा ह्यवभासते ॥ ४२ ॥
अनेकभेदभिन्नापि मनसोऽन्या न हि क्वचित् ।
उत्पन्ना मनसस्तत्र स्थिता तत्रैव लीयते ॥ ४३ ॥
सा केवलमनोरूपा यथा तद्वज्जगच्छिवात् ।
स शिवश्चितिमात्रैकरूपश्चितिरविग्रहा ॥ ४४ ॥
त्रिपुरानन्तशक्त्यैक्यरूपिणी सर्वसाक्षिणी ।
सा चितिः सर्वतः पूर्णा परिच्छेदविवर्जनात् ॥ ४५ ॥
कालो देशश्च लोकेऽस्मिन्परिच्छेदकरः स्मृतः ।
तत्राकारमयो देशः कालस्तु स्यात्क्रियामयः ॥ ४६ ॥
यां चितिं समुपाश्रित्य स्यादाकारः क्रियापि वा ।
तस्याः परिच्छेदकत्वमनयोः स्यात्कथं वद ॥ ४७ ॥
कस्मिन्देशे च काले च चितिर्नास्तीह तद् वद ।
यत्र न स्याच्चितिः सोऽपि कथं स्यादिति वै भवेत् ॥ ४८ ॥

परशुराम ! तुम्हारे मन में जो काल्पनिक रचना है वह तो केवल तुम्हारे मन की ही रचना है, फिर भी उसमें अनेक प्रमाता एवं प्रमेय भी देखे जाते हैं ॥ ४२ ॥

इस तरह यह मन की कल्पना अनेक रूपों में अलग-अलग दीखती हुई भी यह मानसिकता के सिवा और कुछ नहीं होती। यह मन मे ही पैदा होती है, मन में ही रहती है और मन में ही खत्म भी हो जाती है ॥ ४३ ॥

जैसे यह केवल मानसी होती है उसी तरह परम शिव से उत्पन्न यह सृष्टि चेतन मात्र ही तो है । शिव केवल चितिस्वरूप हैं और चिति की कोई देह नहीं होती ॥४४॥

बेहद और बेशुमार ताकत ही तो इसकी आकृति है । सब कुछ देखने वाली यह त्रिपुरा ही तो चिति अर्थात् चैतन्य हैं । इनका खण्ड नहीं हो सकता । ये हर ओर से परिपूर्ण हैं ॥ ४५ ॥

संसार में स्थान और समय ही विभाजक माने गये हैं । इनमें बनावट या सूरत वाला देश है तथा प्रयत्नमय काल है और इन दोनों का आधार शुद्ध चिति है । फिर तुम्हीं बतलाओ, अपने ही आधार के ये विभाजक कैसे बन सकते हैं ? ॥ ४६–४७ ॥

आप ही बतलाइए, इस दुनिया में ऐसी कौन-सी जगह, ऐसा कौन-सा समय है, जहाँ चिति अर्थात् चैतन्य ज्ञान नहीं है ? अतः चेतना-शून्य न कोई स्थान है और न काल ही । सत्ता रूप में चिति ही सब कुछ है ॥ ४८ ॥

विशेष—हमारा होना सागर पर लहरों के होने से भिन्न नहीं है । विश्व सत्ता से कोई सत्तावान् अलग नहीं है । सबके प्राणों का स्रोत उसी केन्द्र में है । उसे चाहे तो हम चिति कहें या और कुछ । नामों से कोई भेद नहीं पड़ता । सत्ता एक और अक्षय है । जैसे आइने के बिना परछाई और मिट्टी के बिना घड़े की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी तरह चिति के बिना देश या काल की सत्ता अलग नहीं हो सकती ।

अस्तिता हि पदार्थानां प्रकाशो नापरः खलु।
प्रकाशस्तु चितिः प्रोक्ता नाऽचितः स्यात्प्रकाशता ॥ ४९ ॥
प्रकाशस्तु सुमुख्यः स्याद्यः स्वतन्त्रः प्रकाशते ।
जडा न स्वप्रकाशा हि चितियोगप्रकाशनात् ॥ ५० ॥
अन्यानपेक्षणेनैव चितिः स्वस्मिन्प्रकाशते ।
जडाश्रितिं समाश्रित्य प्रकाशन्ते न चान्यथा ॥ ५१ ॥
अप्रकाशेऽपि वस्तूनामस्तिता चेत्तदा शृणु ।
अस्ति नास्तीति लोकेऽस्मिन् व्यवस्था न हि सेत्स्यति ॥५२॥
तस्माद्वस्त्वस्तिता लोके चित्प्रकाशो न चापरः ।
यथा हि प्रतिबिम्बानां सत्त्वं दर्पण एव हि ॥ ५३ ॥
तथा चितिर्जगत्सत्ता ततः सर्वं चितिर्भवेत् ।
अधिकं भासते यत्तु तन्नैर्मल्यमहत्त्वतः ॥ ५४ ॥
काठिन्यनिर्मलत्वाभ्यां प्रतिबिम्बावभासनम् ।
तयोस्तु तारतम्येन प्रतिबिम्बः स्फुटोऽस्फुटः ॥ ५५ ॥
दर्पणे च जले चापि स्पष्टमेतद्धि लक्ष्यते ।

अगर पदार्थ की सत्ता है तो उनका प्रकाशित होना भी उतना ही सत्य है। चिति ही प्रकाश है, क्योंकि जड़वर्ग प्रकाश रूप में आ ही नहीं सकता ॥ ४९ ॥

सूर्य की तरह स्वयं आलोकित होनेवाला आलोक ही असली आलोक है। जड़ पदार्थ तो स्वयं प्रकाशित होते नहीं, उनका आलोक तो किसी चेतन के द्वारा ही सम्भव है ॥ ५० ॥

किसी की अपेक्षा किये बिना केवल चिति ही आलोकित हो सकती है। जड़ पदार्थ तो इसी चिति के सहारे प्रकाशित होते हैं, अन्यथा बिलकुल ही नहीं ॥ ५१ ॥

यदि कहा जाय, आलोकित नहीं होने के बावजूद जड़ वस्तुओं का अस्तित्व तो रहता ही है, तो ऐसी स्थिति में इस लोक में अमुक व्यक्ति या वस्तु 'है' या 'नहीं है' इसमें अनवस्था पैदा हो सकती है ॥ ५२ ॥

अतः लोक में वस्तु की सत्ता का अर्थ है—चिति अर्थात् ज्ञान का उस रूप में आलोक और कुछ नहीं। जैसे परछाई की सत्ता आईने में है, उसी तरह चिति ही संसार की सत्ता है। अतः सब कुछ चिति ही है। घड़े या कपड़े जो खाश-खाश रूप में दीखते हैं, यह उसी चिति की स्वच्छता की महिमा है ॥ ५३–५४ ॥

आईना जितना अधिक साफ और सघन होगा, परछाई उतनी अधिक साफ दिखायी देती है। यह अन्तर आईने और पानी में साफ-साफ जाहिर होता है ॥५५½॥

विशेष—आईने की अपेक्षा पानी में सघनता और निर्मलता कम होती है। अतः पानी में पड़नेवाली परछाई आईने में पड़नेवाली परछाई की अपेक्षा कम साफ दिखलाई पड़ती है। यदि यह कहा जाय आईने में बिम्ब के अनुसार प्रतिबिम्ब

जडत्वाद्दर्पणदेस्तु स्वातन्त्र्यपरिवर्जनात् ॥ ५६ ॥
बिम्बापेक्षा चितेः स्वच्छस्वातन्त्र्यादनपेक्षता ।
निर्मलत्वं स्वतःसिद्धं चितेर्मालिन्यवर्जनात् ॥ ५७ ॥
अनेकरसतैव स्यान्मालिन्यं तच्चितेर्न हि ।
ऐकात्म्यरूप्याच्चिच्छक्तेरखण्डत्वाच्च सर्वथा ॥ ५८ ॥
अरिक्तात्मभावहेतोर्नैर्मल्यं सर्वतोऽधिकम् ।
अस्वतो भासमानस्य भानमन्यानुषङ्गतः ॥ ५९ ॥
प्रतिबिम्बस्वरूपज्ञाः प्रतिबिम्बं प्रचक्षते ।
जगदेतादृशं सर्वं सर्वैः समभिलक्षितम् ॥ ६० ॥
स्वतो न भासते क्वापि भासते च चिदाश्रयात् ।
अतो जगत्स्यादादर्शप्रतिबिम्बसुसम्मितम् ॥ ६१ ॥
चितिर्विचित्राऽन्यभावैरुपरक्तापि भासिनी ।
स्वरूपादप्रच्युतैवाऽऽदर्शवल्लेशतोऽपि हि ॥ ६२ ॥
दर्पणप्रतिबिम्बानां दर्पणानन्यता यथा ।
चिदात्मप्रतिबिम्बानां चिदात्मानन्यता तथा ॥ ६३ ॥

बनता है, पर चिति में बिना बिम्ब के ही संसार प्रतिभासित होता है तो इसका उत्तर यह है—

जड़ होने के कारण आईने में बिम्ब के बिना प्रतिबिम्ब बनाने की आजादी नहीं होती। किन्तु चिति को अपनी स्वच्छता और स्वतंत्रता के कारण प्रतिबिम्ब के लिए किसी बिम्ब की अपेक्षा नहीं होती है। चिति में मलिनता है ही नहीं, अतः उसकी स्वच्छता स्वतः सिद्ध है ॥ ५६–५७ ॥

अनेकरसता अर्थात् बहुत सारे पदार्थों की मिलावट ही तो मलिनता है। चिति एकरस और अखण्ड है, उसे किसी का साथ नहीं। उसमें किसी दूसरे के लिए गुंजाईश नहीं है, अतः उसकी सफाई बेहतर है ॥ ५८½ ॥

जो खुद आलोकित न हो प्रत्युत किसी दूसरे की सहायता से जिसकी प्रतीति हो, उसी को परछाई जानने वाली छाया कहते हैं। सारी दुनिया सबको ऐसी ही लगती है ॥ ५९–६० ॥

इसकी खुद कभी प्रतीति नहीं होती, यह तो चेतन के सहारे ही दीख पड़ती है। इसलिए यह दुनिया आईने में दीखने वाली परछाई की तरह है ॥ ६१ ॥

इसे आलोकित करनेवाली चिति भी बड़ी विलक्षण है। वह अलग-अलग खयालों से रंगी रहने के बावजूद भी आईने की तरह अपनी बनावट से थोड़ा भी अलग नहीं होती ॥ ६२ ॥

आईने की परछाई जैसे आईने से अलग नहीं होती, उसी तरह चिदात्मा में पड़ी परछाई चिदात्मा से अलग नहीं है ॥ ६३ ॥

दर्पणे प्रतिबिम्बो हि बिम्बहेतुर्निरूपितः ।
चितेः स्वातन्त्र्यहेतुः स्यात्प्रतिबिम्बो हि जागतः ॥ ६४ ॥
स्वसङ्कल्पाद्राम पश्य स्वात्मनि प्रतिबिम्बितान् ।
भावान् बिम्बविनाभूतान्निर्निमित्तावभासनात् ॥ ६५ ॥
सङ्कल्प एव स्वातन्त्र्यं चितेरुच्छूनमीर्यते ।
असङ्कल्पदशायां सा चितिः स्वच्छैकरूपिणी ॥ ६६ ॥
एवं चितेर्विशुद्धैकरूपायाः सृष्टितः पुरा ।
बृहत्स्वातन्त्र्यमभवत्सङ्कल्पात्मकमेव तत् ॥ ६७ ॥
तत एतत्समाभातं प्रतिबिम्बात्मकं जगत् ।
बृहत्सङ्कल्पसुस्थैर्याच्चिरमेतद्विभासते ॥ ६८ ॥
साधारणं जगद्भाति पूर्णस्वातन्त्र्यहेतुतः ।
अन्येषां तदपूर्णत्वाद्भात्यसाधारणात्मना ॥ ६९ ॥
अभ्यासान्मणिमन्त्राद्यैः स्वातन्त्र्यं तु यथा यथा ।
त्यजेत्सङ्कोचमात्मस्थं तथा तत्र हि भासनम् ॥ ७० ॥
पश्यैन्द्रजालिकं राम निरुपादानयोगतः ।
भासयन्तं जगच्चित्रं सङ्कल्पादेव सर्वतः ॥ ७१ ॥

आईने में जो परछाईं दीखती है, उसकी वजह उसी परछाईं की प्रतिमूर्ति कही जाती है। किन्तु यह संसार रूपी परछाईं चिति की स्वतंत्रता के कारण ही दीख पड़ती है ॥ ६४ ॥

परशुराम ! तुम खुद अनुभव करके देखो, बिना किसी बिम्ब और प्रयोजन के ही केवल मन में इरादा करने से ही अनेक विचारों की परछाईं नहीं उभरती क्या ? ॥६५॥

ऐसा आजाद इरादा ही उस चिति का स्थूल रूप है। जब उसके मन में कोई इरादा नहीं होता है, तब वह शुद्ध चिन्मात्ररूपिणी रहती है ॥ ६६ ॥

इस तरह दुनिया की पैदाइश से पहले केवल शुद्ध चिति में, जो परम स्वतंत्र था, वही विश्व-रचना के पूर्व संकल्प बनकर स्थिर हो गया ॥ ६७ ॥

उसी परम स्वतंत्र के इरादा से परछाईं रूप यह दुनिया दीखने लगी। उसका यह पक्का इरादा बड़ा ही मजबूत है। इसी से वह बहुत दिनों तक दीखती रहती है ॥ ६८ ॥

चिति की पूरी आजादी की वजह से ही यह दुनिया सबको समान रूप से दीखती है। दूसरे प्राणियों की आजादी तो पूरी है ही नहीं। यही कारण है कि उनके संकल्प से दीखने वाली वस्तुएँ आकस्मिक रूप से केवल उन्हें ही दिखलायी पड़ती है ॥ ६९ ॥

लगातार अनुशीलन, रत्नधारण अथवा मन्त्रजप से जैसे-जैसे व्यक्ति की स्वतंत्रता बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे उसके भीतर दीखने वाले पदार्थों की जानकारी में भी खिंचाव या तनाव की कमी होने लगती है ॥ ७० ॥

साधारणं स्थिरं स्वार्थक्रियार्हं भूय एव तु ।
स्वात्मन्युपसंहरेच्च जगदेवं विभासते ॥ ७२ ॥
योगिनः पश्य सृष्टिं तां पूर्णस्थैर्यसमावृताम् ।
योगिनस्तु मितत्वेन सृष्टिर्बाह्या विभाविता ॥ ७३ ॥
अमितत्वात्सृष्टिरियं चिन्मात्रस्यान्तरेव हि ।
अत एव चिदात्मत्वव्यतिरेकादसत्यता ॥ ७४ ॥
जगतः प्रतिबिम्बस्यादर्शात्मत्वं विना यथा ।
अत एव विचारेणासत्यतां याति नान्यथा ॥ ७५ ॥
सत्यं स्वभावं नो मुञ्चेदसत्यं तं परित्यजेत् ।
जगत्पश्य भार्गवैतत् स्वभावादतिचञ्चलम् ॥ ७६ ॥
सत्यासत्ये विभागेन भासेते सर्वतोऽखिलम् ।
प्रतिबिम्बादर्शभानमिव तत्प्रविचारय ॥ ७७ ॥
आदर्शो ह्यचलस्तत्र चलं हि प्रतिबिम्बकम् ।
तथा जगच्चलं संविदचलं सर्वभावितम् ॥ ७८ ॥

देखो परशुराम ! एक बाजीगर कोई साधन या असबाब के बिना ही सिर्फ अपने पक्के इरादे से नई दुनिया की तसवीर दिखा देता है ॥ ७० ॥

जादूगर की वह तसवीर सबको दिखलायी पड़ती है। बिलकुल अटल जान पड़ता है। संसार की हर वस्तु की तरह उससे भी व्यवहार किया जा सकता है। फिर वह बाजीगर अपनी बाजीगरी को अपने-आप में समा लेता है। उसी तरह यह दुनिया भी दीख रही है ॥ ७२ ॥

इसी तरह योगियों के मन की काल्पनिक सृष्टि को भी देखो। वह तो पूरी स्थिरता के साथ रहती है। किन्तु योगियों का स्वरूप तो सीमित ही होता है। यही कारण है कि उनकी सृष्टि उनसे बाहर ही दिखलायी पड़ती है ॥ ७३ ॥

किन्तु चिन्मात्र परमात्मा का रूप तो निःसीम है। अतः उनकी जगत्-रचना उनके भीतर ही है। परछाई जैसे आईने का ही रूप होता है उसी तरह परमात्मा से भिन्न इस जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है। ऐसे विचार से ही इसकी असत्यता सिद्ध होती है और किसी दूसरे ढंग से नहीं ॥ ७४–७५ ॥

हे परशुराम ! सच कभी बे-असर नहीं होता और झूठ का कोई असर नहीं होता। देखो, यह दुनिया अपनी आदत से बड़ी चुलबुली है ॥ ७६ ॥

हर तरह के सच और झूठ आईने और परछाई की तरह शान्त और शोख अलग-अलग महसूस होते हैं। इनका तुम खुद विचार करो ॥ ७७ ॥

आईना अटल होता है और परछाई चंचल। इसी तरह संसार चंचल है और चैतन्य अचल — इसे सब जानते हैं ॥ ७८ ॥

अत एव हि भावानां विचारासहरूपता ।
तथा हि सूर्यालोको हि वस्तूनामवभासकः ॥ ७९ ॥
उलूकादिदिवान्धानां विपरीतोऽन्धकारवत् ।
प्रकाशत्वान्धकारत्वे न विविक्तेऽनयोः स्फुटे ॥ ८० ॥
एवं विषं कस्यचित्स्यादविषं कस्यचिद्भवेत् ।
मनुष्यादेः प्रतीघातकरी भित्तिर्हि लक्ष्यते ॥ ८१ ॥
योगिनां गुह्यकादीनामप्रतीघातलक्षणा ।
कालो देशश्च दीर्घो यो मनुष्यादिप्रभावितः ॥ ८२ ॥
स एव विपरीतो वै देवानां योगिनामपि ।
दर्पणे भासमानस्य दूरादेर्दूरता यथा ॥ ८३ ॥
तथैवास्य स्वभावोऽपि विचारे न स्थिरी भवेत् ।
अत आश्रयरूपेण विना नास्ति हि किञ्चन ॥ ८४ ॥
यदस्तीति भाति तत्तु चितिरेव महेश्वरी ।
एवं जगच्चिदेकात्मरूपं ते सम्यगीरितम् ॥ ८५ ॥

इति श्रीमज्ज्ञानखण्डे जगत्तत्त्वनिरूपणे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इसी तरह दुनियाई वस्तु विचार के सामने टिक नहीं पाती । सूर्य की रोशनी में दिन में सबको सब कुछ दिखलायी पड़ता है, किन्तु विपरीतधर्मी उल्लू को यदि दिन में दिखलायी नहीं पड़ता तो इससे उजाला और अँधेरा का स्पष्ट निर्णय नहीं हो सकता ।। ७९–८० ।।

इस तरह एक के लिए जो जानलेवा जहर होता है वह दूसरे के लिए जहर नहीं भी होता है । जो वस्तु एक डरपोक आदमी के लिए रुकावट पैदा करनेवाली होती है, वही वस्तु एक योगी या गुह्यक योनि के लिए रुकावट नहीं पैदा करती है ॥ ८१½ ॥

जो जगह और समय आदमी को बहुत दूर दीखता है, वही स्थान और काल देवता और योगियों को वैसा ही महसूस नहीं होता ॥ ८२½ ॥

आईने में दिखायी देने वाली दूरी में जैसे कोई फासला नहीं होता, उसी तरह विचार करने पर इस दुनिया का स्वभाव भी स्थिर नहीं जान पड़ता । अतः उसका सहारा चेतन के सिवा और कुछ नहीं है ।। ८३–८४ ॥

संसार में जो है, जो कुछ दीख रहा है, वह सिर्फ महेश्वरी चिति का ही स्वरूप है । इस तरह संसार और चेतन की एकरूपता का इस अध्याय में विवेचन हुआ ॥ ८५ ॥

ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ।

द्वादशोऽध्यायः

एवं दत्तात्रेयमुखाज्जगत्तत्त्वं निशम्य तु ।
पप्रच्छ भार्गवो भूयः सन्देहकलिलान्तरः ॥ १ ॥
भगवन् संश्रुतं प्रोक्तं भवता जागतं ननु ।
यथा ब्रवीषि भगवंस्तत्तथैव न चाऽन्यथा ॥ २ ॥
तथापि कुत एतद्धि भाति सत्यात्मकं सदा ।
कुतो वाऽन्यैर्बुद्धिमद्भिः सत्यत्वेन विनिश्चितम् ॥ ३ ॥
त्वत्तः श्रुतं चापि भूयो भाति मे सत्यवत् कुतः ।
ब्रूह्येतत् कृपया नाथ यथा नश्येदयं भ्रमः ॥ ४ ॥
इत्यापृष्टो भार्गवेण दत्तात्रेयो महाशयः ।
जगत्सत्यभ्रान्तिमूलं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ ५ ॥
शृणु राम जगद्भ्रान्तेर्मूलमेतत् सनातनम् ।
वस्त्वविद्यापूर्वकं यद्दृढा भावनमेव तत् ॥ ६ ॥
पश्यात्मानमविज्ञाय स्वात्मबुद्धिं शरीरके ।
क्व मांसरुधिरास्थीनि क्व चिदात्माऽतिनिर्मलः ॥ ७ ॥

(शिलालोक का दर्शन)

इस तरह श्रीदत्तात्रेय के मुँह से विश्व की वास्तविक स्थिति सुनकर परशुराम का मन संदेह से भर गया । उन्होंने पूछा—॥ १ ॥

पूज्यवर ! संसार के बारे में आपने जो कुछ अपना विचार व्यक्त किया, उसे मैंने सुना । सचमुच इसके बारे में आपने जो कुछ कहा, असंदिग्ध रूप से यह वैसा ही है ॥ २ ॥

फिर भी यह संसार लोगो को सच क्यों लगता है ? तथा कई अन्य बुद्धिमानों ने इसे सच क्यों माना है ? ॥ ३ ॥

आप जैसे गुरु के मुख से मैंने सुना—'यह दुनिया झूठ है', फिर भी मुझे यह सच क्यों लग रही है ? हे नाथ ! कृपया इसकी वजह आप मुझे समझा दे, ताकि मेरा भ्रम नष्ट हो जाय ॥ ४ ॥

परशुराम के ऐसा पूछने पर गुरु दत्तात्रेय ने दुनिया को सच मानने की भूल के मूल का वर्णन करना शुरू किया ॥ ५ ॥

सुनो परशुराम ! दुनिया को सच मानने की भूल का मूल कारण अज्ञानता है, जिसे हृदय से लोगों ने बहुत दिनों से पकड़ रखा है ॥ ६ ॥

देखो, अपने-आप को न जानने की वजह से ही देह में आत्मबुद्धि हुई है । नहीं तो कहाँ ये मांस, हड्डी और लहू और कहाँ निर्मल चेतन आत्मा ॥ ७ ॥

केवलं भावनादार्ढ्याच्चिदात्मा देहकोऽभवत् ।
ज्ञातेऽप्यात्मनि चिद्रूपे भूयो भ्रान्तिः शरीरके ॥ ८ ॥
एवमेव भावनया सत्यं भाति जगत् खलु ।
विपरीतं भावयन् वै दृढं भ्रान्तिं निवर्तयेत् ॥ ९ ॥
यो यथा भावयेदेतज्जगत्तस्य तथा भवेत् ।
योगिनां धारणाध्यानैः पश्य तद्रूपसङ्गतिम् ॥ १० ॥
अत्र ते वर्णयिष्यामि पुनरावृत्तमद्भुतम् ।
अस्ति वङ्गे सुन्दराख्यं पुरं परमपावनम् ॥ ११ ॥
तत्राऽऽसीन्नृपतिर्धीमान् सुषेण इति विश्रुतः ।
तस्य भ्राता महासेनो यवीयान् प्रियकृत् सदा ॥ १२ ॥
शशास राज्यं नृपतिर्धर्मतः सर्वसम्मतः ।
कदाचिदश्वमेधैः सोऽयजद्देवं महेश्वरम् ॥ १३ ॥
तत्र राजकुमारास्तु महाबलपराक्रमाः ।
महत्या सेनया यज्ञाश्वं सर्वेऽह्यनुसंययुः ॥ १४ ॥
अश्वस्य रोधकान् सर्वान् विजित्य बलिनो बलात् ।
ययुरैरावतीतीरमन्वश्वं नृपतेः सुताः ॥ १५ ॥

केवल खयाल की मजबूती की वजह से यह देह चिदात्मा बन बैठी है । इस खयाल की मजबूती इतनी पक्की है कि आत्मा को जान लेने के बाद भी देह में आत्मबुद्धि समझने की भूल लोग करते हैं ॥ ८ ॥

ठीक इसी तरह पक्के विचार के कारण ही यह नकली दुनिया असली जान पड़ती है । अतः इसके विरोधी विचार का अनुशीलन कर इस पक्की भूल को भुला देना चाहिए ॥ ९ ॥

जो जैसी भावना करता है, उसके लिए यह दुनिया वैसी ही हो जाती है । देखो योगियों को, वे जैसा ध्यान करते हैं, उनकी अनुभूति भी वैसी ही होती है ॥ १० ॥

इसके बारे में मैं तुम्हें एक विस्मयकारी कथा सुनाता हूँ । बंगाल में सुन्दरपुर नाम का एक बड़ा पवित्र नगर है ॥ ११ ॥

वहाँ एक बुद्धिमान् राजा था । उसका नाम सुषेण था । उसके मन के मुताबिक काम करने वाला उसका एक छोटा भाई था । उसका नाम महासेन था ॥ १२ ॥

राजा नेकी के साथ प्रजा का पालन करता था । वह सबका प्यारा था । भगवान् महेश्वर की आराधना में उसने एक बार अश्वमेध यज्ञ किया ॥ १३ ॥

बड़े-बड़े बहादुर और ताकतवर राजकुमारों ने यज्ञ के घोड़े का अनुसरण किया । उनके साथ बड़ी भारी सेना भी चल रही थी ॥ १४ ॥

यज्ञ के घोड़े को रोकनेवाले सब बाहुबलियों को वीर राजकुमारों ने पराजित कर दिया । इस तरह घोड़े का अनुसरण करते हुए वे इरावती तट पर पहुँच गये ॥ १५ ॥

दद‍ृशुस्तत्र राजर्षि तङ्गणाख्यं तपोनिधिम् ।
बलोद्धता अवज्ञाय तमसङ्गम्य ते ययुः ॥ १६ ॥
तद्वीक्ष्य तङ्गणसुतः पित्रवज्ञां रुषान्वितः ।
जग्राहाश्वं यज्ञीयं तं राजपुत्रान् हि भर्त्संयन् ॥ १७ ॥
अथ राजकुमारास्ते रुरुधुः सर्वतो हि तम् ।
तावत् तङ्गणपुत्रोऽपि गण्डशैलं पुरःस्थितम् ॥ १८ ॥
विवेशाश्वं समादाय पश्यत्सु राजसूनुषु ।
साश्वं शिलाविलीनं तं दृष्ट्वा राजकुमारकाः ॥ १९ ॥
विभिदुर्गण्डशैलं तं शस्त्रैरुच्चावचैः पृथक् ।
चूर्णिताद् गण्डशैलात् स महत्या सेनया वृतः ॥ २० ॥
निर्गत्य तङ्गणसुतो जिगाय युधि तान् क्षणात् ।
निहत्य सेनां सौषेणीं बध्वा राजकुमारकान् ॥ २१ ॥
प्रविवेश गण्डशैलं भूयस्तङ्गणसम्भवः ।
अथ सेनाभटाः शिष्टा गत्वा राज्ञे न्यवेदयन् ॥ २२ ॥
साश्वराजकुमाराणां हरणं गण्डशैलके ।
सुषेणो विस्मितोऽत्यन्तमुवाचाऽवरजं स्वकम् ॥ २३ ॥

वहाँ उन्होंने तङ्गण नामक एक तपोनिष्ठ ऋषि के दर्शन किये, किन्तु बलोन्मत्त होने के कारण उन्होंने उनकी उपेक्षा कर दी। उनसे बिना भेंट किये ही वे आगे बढ़ गये ॥ १६ ॥

अपने पिता की इस तरह अवहेलना होती देख मुनि तङ्गण के बेटे को गुस्सा चढ़ आया। उसने यज्ञ के घोड़े को पकड़ लिया और राजकुमारों को ललकारा ॥ १७ ॥

उसके बाद राजकुमारों ने भी उसको चारों ओर से घेर लिया। तब तक तंगण मुनि का बेटा भी राजकुमारों के देखते-देखते ही उनके सामनेवाले पहाड़ की कन्दरा में घुस गया ॥ १८½ ॥

राजकुमारों ने घोड़े के साथ उन्हें पहाड़ की कन्दरा में घुसते देख छोटे-मोटे हथियारों से उस गुफा को तोड़ डाला ॥ १९½ ॥

उस फूटी गुफा से तङ्गण का बेटा एक विशाल सेना के साथ बाहर निकला। पलक झपकते ही उसने लड़ाई के मैदान में राजकुमारों को जीत लिया ॥ २०½ ॥

महर्षि तङ्गण के बेटे ने सुषेण की सेना को मारकर राजकुमारों को बन्दी बना लिया। फिर उन्हें लेकर उसी गुफा में घुस गया ॥ २१½ ॥

बचे-खुचे सैनिकों ने भागकर राजा को घोड़े सहित राजकुमारों का अपहरण कर पहाड़ की गुफा में बन्दी बनाने की खबर दी। यह खबर पाकर राजा बड़ा ही अचंभित हुआ। उसने अपने छोटे भाई से कहा—॥ २२–२३ ॥

वत्साऽऽशु गच्छ तं देशं यत्राऽऽस्ते तङ्गणो मुनिः ।
तपस्विनोऽचिन्त्यवीर्या अजेया देवमानुषैः ॥ २४ ॥
तं प्रसाद्य सुतानश्वं चाऽऽसाद्याऽऽयाहि सत्वरम् ।
न कालोऽतिव्रजेदेष वसन्तो यज्ञसम्मतः ॥ २५ ॥
अभिमानो न कर्त्तव्यस्तपस्विषु कदाचन ।
क्रुद्धास्तपस्विनो लोकान् भस्मीकुर्युः क्षणेन वै ॥ २६ ॥
अतः प्रसादनपरो भूत्वा स्वार्थं प्रसाधय ।
इत्यादिष्टो महासेनस्तं देशं शीघ्रमाययौ ॥ २७ ॥
अपश्यत् तङ्गणं तत्र समाहितमतिं दृढम् ।
काष्ठकुड्यात्मतां प्राप्तं शान्तेन्द्रियमनोधियम् ॥ २८ ॥
निर्विकल्पदशाम्भोधिनिलीनस्वात्मभावनम् ।
प्रणम्य दण्डवद् भूयः कृताञ्जलिपुटस्तदा ॥ २९ ॥
तुष्टाव विविधैः स्तोत्रैर्महासेनो मुनीश्वरम् ।
तथा तस्य संस्तुवतो ह्यत्यगाद्वै दिनत्रयम् ॥ ३० ॥
अथाऽऽजगाम तत्पुत्रः सन्तुष्टः पितृसंस्तवात् ।
प्रोवाच तं महासेनं राजंस्तुष्टोऽस्मि संस्तवात् ॥ ३१ ॥

भाई ! तङ्गण मुनि जहाँ रहते हैं वहाँ जल्द-से-जल्द पहुँचो । तपस्वियों में बेअंदाज ताकत होती है । देवता हो या आदमी, वे सबके लिए अजेय होते हैं ॥ २४ ॥

उन्हें खुश कर घोड़े के साथ राजकुमारों को लेकर जल्द-से-जल्द लौट आओ, ताकि यज्ञ के लिए यह उपयुक्त समय वसन्त कहीं बीत न जाय ॥ २५ ॥

तपस्वियों के सामने कभी घमण्ड नहीं करना चाहिए । क्योंकि तपस्वी अगर कहीं रंज हो जायँ तो फिर पल में प्रलय मचा सकते हैं ॥ २६ ॥

"अतः उन्हें खुश कर अपना काम बना लेना" । राजा का आदेश मिलते ही महासेन जल्द ही उस महर्षि के आश्रम में पहुँच गया ॥ २७ ॥

वहाँ उन्होंने तङ्गण ऋषि को अटल समाधि में लीन देखा । उनकी देह काठ की तरह कड़ी और दीवार की तरह बिलकुल अचल थी । उनकी इन्द्रियाँ, उनका चित्त तथा उनकी बुद्धि बिलकुल शान्त थीं ॥ २८ ॥

उनका अपनापन स्थिर-स्थिति-रूप सागर में डूबा था । उन्हें इस दशा में देखकर महासेन ने धरती पर डंडे की तरह लेटकर साष्टाङ्ग पहले प्रणाम किया । फिर हाथ जोड़कर उनकी महिमा का बखान करना शुरू किया । इस तरह अनेक स्तोत्रों से वन्दना करते उसे वहाँ तीन दिन बीत गये ॥ २९–३० ॥

अपने बाप की वन्दना सुनकर मुनि तङ्गण के बेटे ने खुश होकर महासेन से कहा—राजन् ! मैं तुम्हारी स्तुति से सन्तुष्ट हूँ ॥ ३१ ॥

ब्रूहि किं तेऽभिलषितं साधयाम्यविलम्बितम् ।
अहं पुत्रोऽस्म्यस्य विभोस्तङ्गणस्य महामुनेः ॥ ३२ ॥
नैतस्य मे पितुः कालो भाषणे शृणु भूमिप ! ।
समाहितस्वान्त एष द्वादशाब्दादनन्तरम् ॥ ३३ ॥
समाधितः समुत्तिष्ठेत् तत्र पञ्चाब्दका गताः ।
सप्ताऽवशेषा एवं हि समयोऽस्य पुरातनः ॥ ३४ ॥
तत्तेऽभिवाञ्छितं ब्रूहि यत्तस्मात् तत् करोम्यहम् ।
न मां बालं विजानीहि पितृतुल्यं तपस्विनम् ॥ ३५ ॥
नाऽसाध्यं विद्यते लोके योगिनां हि तपस्विनाम् ।
श्रुत्वा मुनिकुमारोक्तं महासेनोऽतिबुद्धिमान् ॥ ३६ ॥
प्राह तं तङ्गणसुतं प्रणम्य च कृताञ्जलिः ।
मुनिपुत्र ! प्रियं मेऽद्य करोषि यदि सत्यतः ॥ ३७ ॥
तत् पितुस्तेऽद्य वाञ्छामि समाधेर्व्युत्थितस्य वै ।
सह सम्भाषणं किञ्चिदेतदत्यन्तवाञ्छितम् ॥ ३८ ॥
अनुकम्प्यो यद्यहं ते द्रुतमेतत् प्रसाधय ।
श्रुत्वैतद्वचनं राज्ञः प्राऽऽह तापसजः पुनः ॥ ३९ ॥

अत्यन्त शक्तिशाली मुनि तङ्गण का मैं पुत्र हूँ। तुम क्या चाहते हो बतलाओ, मैं तुरन्त तुम्हारी इच्छा पूरी कर दूँगा ॥ ३२ ॥

हे राजन् ! मेरे पिताश्री के बोलने का अभी समय नहीं है। इनका मन बिलकुल समाधि में लीन है। उनकी यह समाधि बारह साल के लिए है। अभी पाँच साल ही बीते हैं, सात साल और बाकी है। इसका संकेत इन्होंने पहले से ही दे रखा है ॥ ३३–३४ ॥

इसलिए आप जो इनसे चाहते हो, मुझे बतला दो। मैं ही तुम्हारी इच्छा पूरी कर दूँगा। बिलकुल मुझे बच्चा मत समझो। मैं भी अपने पूज्य पिता की तरह ही एक तपस्वी हूँ। तपस्वी और योगियों के लिए संसार में कोई बात असाध्य नहीं होती ॥ ३५½ ॥

ऋषिपुत्र की बातें सुनकर बुद्धिमान् महासेन ने उन्हें प्रणाम किया। फिर हाथ जोड़कर उनसे कहा ॥ ३६½ ॥

ऋषिकुमार ! यदि सचमुच आप मेरा कोई प्रिय करना चाहते हैं तो मैं समाधि से उठे आपके पिताश्री से कुछ बातें करना चाहता हूँ—यही मेरी बड़ी अभिलाषा है ॥ ३७–३८ ॥

यदि आप मुझे अपनी अनुकम्पा के योग्य मानते हैं तो जल्द-से-जल्द मेरी इच्छा पूरी कर दीजिए। राजा की विनती सुनकर मुनिकुमार ने फिर कहा ॥ ३९ ॥

राजन् न साध्यं ह्येतत्ते वाञ्छितं सर्वथा भवेत् ।
तथाऽपि ते करोमीति प्रतिश्रुत्याऽन्यथा कथम् ॥ ४० ॥
ब्रवीमि भूयस्तत् किञ्चित् प्रतीक्षस्वाऽभियाचितः ।
मुहूर्तमात्रं मे पश्य सामर्थ्यं योगसम्भवम् ॥ ४१ ॥
एष मेऽद्य गुरुः शान्तपदे परमपावने ।
संस्थितस्तं बाह्ययत्नैरपि को वै प्रबोधयेत् ॥ ४२ ॥
पश्याऽहं बोधयाम्येनं योगयुक्त्यैव सूक्ष्मया ।
इत्युक्त्वाऽथ समाविश्य समाहृत्येन्द्रियाण्यलम् ॥ ४३ ॥
प्राणेऽपानं सुसंयोज्य मुख्यप्राणेन निर्गतः ।
देहं पितुः प्रविश्याऽऽशु प्रलीनं तस्य मानसम् ॥ ४४ ॥
बोधयामास चाऽऽकृष्य प्रबोध्याऽऽशु विनिर्गतः ।
देहं स्वमाविशद् यावत् तावत् स बुबुधे मुनिः ॥ ४५ ॥
अपश्यदग्रगं भूपं स्तुवन्तं प्रणतं तदा ।
किमेतदिति सञ्चिन्त्य सर्वं योगदृशाऽविदत् ॥ ४६ ॥
प्रसन्नचित्त आमन्त्र्य पुत्रं प्राह सुशान्तधीः ।
वत्स ! नैवं पुनः कार्यं क्रोधस्तु तपसो रिपुः ॥ ४७ ॥

राजन् ! तुम्हारी इस इच्छा की पूर्ति तो मेरे वश की नहीं है । फिर भी मैंने तुम्हें वचन दिया है, उससे मुकरना तो अब सम्भव नहीं है । कुछ पल रुको और एक योगी की ताकत देखो ॥ ४०–४१ ॥

इस समय मेरे गुरु अत्यन्त पवित्र शान्त पद में प्रतिष्ठित हैं । संसार का कोई बाहरी प्रयास इन्हें जगा नहीं सकता । देखो, मैं इन्हें योग की अत्यन्त सूक्ष्म प्रक्रिया से जगाता हूँ ॥ ४२½ ॥

इतना कहकर वह वहीं बैठ गया । फिर उसने अपनी सारी इन्द्रियों की गति को रोककर अपानवायु अर्थात् जो वायु तालु से पीठ तक और गुदा से पेड़ू तक फैली है, उसे प्राणवायु के साथ मिला दिया । फिर प्रधान प्राणवायु के रूप में अपनी देह से निकलकर समाधि में बैठे अपने पिता की देह में समा गया । फिर वहाँ उनके सोये मन को झकझोर कर जगा दिया । इस तरह उन्हें सजग कर बाहर निकलते ही अपनी निर्जीव पड़ी देह में घुस गया । उधर महामुनि भी समाधि से जग गये ॥ ४३–४५ ॥

जगते ही मुनि ने अपने सामने बड़े विनीत भाव से स्तुति करते राजा को देखा । ऊपरी निगाह से जब मामला उनकी समझ में नहीं आया तब योगदृष्टि से उन्होंने सारी बातें जान लीं ॥ ४६ ॥

फिर उन्होंने खुश होकर बड़े शान्त मन से बेटे को समझाते हुए कहा — बेटे ! ऐसी गलती फिर कभी मत करना । गुस्सा तो तप का दुश्मन है ॥ ४७ ॥

राज्ञा हि रक्षिते लोके तपो निर्विघ्नमेधते ।
यज्ञविघ्नक्रिया दैत्यस्वभावो न मुनेः क्वचित् ॥ ४८ ॥
प्रयच्छाऽश्वं राजपुत्रानप्यस्मै सुमना द्रुतम् ।
शीघ्रं यात्वेष यज्ञस्य न कालातिक्रमो भवेत् ॥ ४९ ॥
इत्युक्तो गण्डशैलं स प्रविश्य क्षणमात्रतः ।
साश्वान् राजसुतांस्तस्मै ददौ प्रीत्या गतक्रुधः ॥ ५० ॥
ततः साश्वान् भ्रातृपुत्रान् सम्प्रेष्य नगरं प्रति ।
महासेनस्तङ्क्षणं तं प्रणम्यात्यन्तविस्मितः ॥ ५१ ॥
अपृच्छत् प्राञ्जलिर्भूत्वा प्रसाद्य मुनिपुङ्गवम् ।
भगवन् ज्ञातुमिच्छामि साश्वा मे भ्रातृनन्दनाः ॥ ५२ ॥
कथं गण्डशैलगर्भे संस्थितास्तत् समीरय ।
एवं राज्ञानुयुक्तोऽथ तङ्क्षणः प्राह भूपतिम् ॥ ५३ ॥
शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि पुराऽहं पृथिवीपतिः ।
समुद्रवलयां पृथ्वीमन्वशासं चिरं खलु ॥ ५४ ॥
महादेवप्रसादेन ज्ञात्वा चितिमधीश्वरीम् ।
त्रिपुरां लोकसंस्थानं नीरसं विमृशंस्तथा ॥ ५५ ॥

राजा तो लोकरक्षक होता है। जिसके राज्य में सुव्यवस्था होती है, उसके राज्य में ऋषि-मुनियों की तपस्या बाधारहित होती है। उसमें सदैव बढ़ोत्तरी होती है। किसी के यज्ञ में विघ्न डालना तो दैत्यों का स्वभाव होता है, मुनियों का कभी नहीं ॥ ४८ ॥

तुम खुशी-खुशी घोड़े के साथ राजकुमारों को इन्हें सौंप दो। इन्हें जल्द जाना चाहिए। कहीं यज्ञ का शुभ अवसर हाथ से निकल न जाय ॥ ४९ ॥

पिता की ऐसी आज्ञा सुनकर बेटे का गुस्सा बिलकुल शान्त हो गया। उसने उसी क्षण गुफा में घुसकर घोडे के साथ राजकुमारों को बाहर निकालकर महासेन को सौंप दिया ॥ ५० ॥

महासेन ने घोड़े के साथ राजकुमारों को नगर की ओर भेजकर विस्मयविमुग्ध होते हुए मुनि तङ्क्षण को प्रणाम किया तथा पूछा ॥ ५१½ ॥

पूज्यवर ! कृपया यह बतलाने का कष्ट करें कि इस छोटी गुफा में अपने घोड़े के साथ मेरे भतीजे कैसे रहे ? ॥ ५२½ ॥

महासेन का ऐसा सवाल सुनकर तङ्क्षण मुनि ने कहा—सुनो राजन् ! पहले मैं भी राजा था। बहुत दिनों तक इस समस्त धरती पर मैंने एकछत्र राज्य किया है ॥ ५३–५४ ॥

भगवान् महादेव की दया से चौदह भुवनों की मालिका चित्स्वरूपा भगवती त्रिपुरा को जानकर संसार की हर वस्तु फीकी महसूस होने लगी। दुनियादारी

निर्विण्णो लोकयात्रायां न्यस्य राज्यं सुतेष्वथ ।
प्राविशं वनमेतं वै भार्या मामन्वगात् सती ॥ ५६ ॥
तस्याभितप्यतो मेऽत्र ययुरर्बुदवत्सराः ।
भार्यापि मत्सेवनेन परां सिद्धिमुपागता ॥ ५७ ॥
कदाचिदथ भाव्यर्थगौरवान्मे प्रिया सती ।
समाधावेव कामार्त्तमानसाभूत् ततस्तु सा ॥ ५८ ॥
मां दृष्ट्वा रतिमिच्छन्ती समाधिस्थं स्थिरान्तरम् ।
असहन्ती कामवेगं भावयामास मद्रतिम् ॥ ५९ ॥
गाढभावनया प्राप्य सम्भोगं तु मया सह ।
दधार गर्भं सुषुवे पुत्रमेतं पुरः स्थितम् ॥ ६० ॥
पुत्रं न्यस्य मदुत्सङ्गे मां समाधेः प्रबोध्य च ।
देहं भूतेषु सात्कृत्य परव्योमाऽऽत्मतां ययौ ॥ ६१ ॥
अथ दृष्ट्वोत्सङ्ग एनं ज्ञात्वा तस्या गतिं पराम् ।
दयाक्रान्तमना जातस्तेनायं वर्द्धितो मया ॥ ६२ ॥
श्रुत्वा कदाचिन्मत्तोऽयं राज्यशास्ति पुरा कृताम् ।
राज्यशासनकामोऽभूत् प्रार्थयामास मामनु ॥ ६३ ॥

से जी बिलकुल हट गया। फिर एक दिन अपना सारा राज्य बेटों को सौंप कर खुद इस जङ्गल में तप के लिए चला आया। मेरी साध्वी पत्नी भी मेरे साथ चली आई ॥ ५५–५६ ॥

यहाँ तप करते मुझे एक अरब साल बीत गये। मेरी सेवा करते रहने से मेरी पत्नी को भी परम पद मिल गया ॥ ५७ ॥

बाद में होनी के सामर्थ्य से मेरी पत्नी का मन समाधि में लीन मुझे देखकर एक दिन कामातुर हो उठा ॥ ५८ ॥

मुझे देखकर उसे सहवास की याद हुई। किन्तु उसने देखा कि मैं समाधि में लीन बिलकुल अन्तर्मुख हूँ। फिर भी कामवेग को सहन नहीं कर पाने से उसने मेरे साथ संभोग की प्रबल भावना की ॥ ५९ ॥

पक्की भावना की वजह से वैसी स्थिति में ही उसे मेरा सम्पर्क मिल गया। वह गर्भवती हो गई। फिर यह सामने जो बेटा खड़ा है, उसको उसने जन्म दिया ॥ ६० ॥

उसने इस बेटे को मेरी गोद में रखकर मुझे समाधि से जगा दिया और स्वयं इस पाञ्चभौतिक देह को छोड़कर परब्रह्म में लीन हो गई ॥ ६१ ॥

इसे अपनी गोद में देख और उसे परमपद में लीन जानकर मेरा दिल दया से भर आया। मैंने इसे पाल-पोष कर बड़ा किया ॥ ६२ ॥

एक बार इसने मुझसे मेरी पिछली शाहनशाही की बात सुनी। इसके मनमें भी बादशाहत का चाव जग गया। इसके लिए उसने मुझसे विनती की ॥ ६३ ॥

ततो मदुपदेशेन प्राप्य योगर्द्धिमुत्तमाम् ।
निर्माय भावनायोगात् लोकमस्मिन् महाऽश्मनि ॥ ६४ ॥
समुद्रवलयां पृथ्वीं शास्ति नित्यं सुतस्त्वयम् ।
तल्लोकेऽश्वः सुता राज्ञो निरुद्धास्ते हि मोचिताः ॥ ६५ ॥
इत्येतत् ते समाख्यातं गण्डशैलेऽवरोधनम् ।
इति श्रुत्वा मुनिवचो भूयः पप्रच्छ भूपतिः ॥ ६६ ॥
श्रुतं त्वदुक्तमेतद्वै महाश्चर्यकरं परम् ।
तं लोकं द्रष्टुमिच्छामि कृपया मे प्रदर्शय ॥ ६७ ॥
इति सम्प्रार्थितो राज्ञा मुनिः पुत्रं समादिशत् ।
वत्सास्मै दर्शय स्वीयं लोकं सर्वं यथेप्सितम् ॥ ६८ ॥
इत्युक्त्वा तङ्गणो भूयः प्रविवेश समाहितिम् ।
अथ तं तङ्गणसुतः समासाद्य नृपं ययौ ॥ ६९ ॥
गण्डशैलं प्रति ततः प्राविशन्मुनिदारकः ।
प्रवेष्टुं नाशकद् भूप आह्वयत्तं मुनेः सुतम् ॥ ७० ॥
सोऽपि गण्डशिलान्तस्थो राजानं समुपाह्वयत् ।
अथ भूयो विनिष्क्रम्य प्राह भूपं मुनेः सुतः ॥ ७१ ॥
नृपैष लोकस्तेऽसाध्यः प्रवेष्टुं खल्वयोगिनः ।
अयोगाद् गण्डशैलोऽय घनः सप्रतिघोऽभवत् ॥ ७२ ॥

तब मैंने उसे योग की शिक्षा दी। शीघ्र ही उसने उत्तम योगबल प्राप्त कर मन की दृढ़ संकल्पशक्ति से इस विशाल पहाड़ में एक अभिनव विश्व की रचना की। मेरा यह बेटा आसमुद्र उस धरती पर शासन करता है। उसी दुनिया में इसने तुम्हारे घोड़े और शाहजादों को कैद कर लिया था, जिन्हें अब इसने छोड़ दिया है ॥ ६४–६५ ॥

'इस तरह मैंने तुम्हें इस पहाड़ के भीतर कैद करने की बातें बतला दीं।' मुनि तङ्गण की बातें सुनकर महासेन ने फिर पूछा ॥ ६६ ॥

आपके मुँह से मैंने अजीबोगरीब कहानी तो सुन ली। अब मैं उस दुनिया को अपनी आँखों से देखना चाहता हूँ। दिखलाने की दया तो करें ॥ ६७ ॥

राजा की विनती सुनकर मुनि ने अपने बेटे से कहा—'बेटे ! तुम अपनी दुनिया इन्हें दिखला दो' ॥ ६८ ॥

इतना कहकर तङ्गण मुनि फिर समाधि में लीन हो गये। ऋषिकुमार महासेन को साथ लेकर उस पहाड़ के पास पहुँचा। वह तो भीतर घुस गया, पर राजा तो बाहर ही छूट गया। उसने मुनिकुमार को पुकारा ॥ ६९–७० ॥

उधर पहाड़ के भीतर से उसने भी राजा को पुकारा। फिर बाहर निकलकर राजा से कहा ॥ ७१ ॥

नेतव्यस्तं सर्वथैव पितुर्वचनगौरवात् ।
तदत्र देहं विन्यस्य कोटरे तृणसंवृते ॥ ७३ ॥
मनोमात्रशरीरः सन् शैलं विश मया सह ।
इत्युक्तः प्राह नृपतिरशक्तो देहनिर्गमे ॥ ७४ ॥
कथं मुने देहमिममुत्सृजामि समीरय ।
उत्सृजामि यदि बलान्नाशमेष्यामि सर्वथा ॥ ७५ ॥
एवं वदन्तं नृपतिं प्रहस्याह मुनेः सुतः ।
अहो योगानभिज्ञोऽसि चाऽस्तु नेत्रे निमीलय ॥ ७६ ॥
इत्युक्त्वा मीलिताक्षं तं प्रविश्य निमिषार्द्धतः ।
आकृष्य तल्लिङ्गतनुं क्षिप्त्वा श्वभ्रे च तत्तनुम् ॥ ७७ ॥
योगसामर्थ्यतः शैले निविश्य नृपसंयुतः ।
सुषुप्तं देहवैकल्यात् स्वसङ्कल्पोत्थदेहके ॥ ७८ ॥
संयोज्य बोधयामास प्रबुद्धो नृपतिस्तदा ।
गृहीतं मुनिनाऽपश्यत् स्वं महागगने तदा ॥ ७९ ॥
ऊर्ध्वं विष्वक् च सम्पश्यन् नभो भीममनन्तकम् ।
भीतः प्राह मुनेः पुत्रं मुने मां न परित्यज ॥ ८० ॥

राजन् ! तुम योगी तो हो नहीं, अतः इस पहाड़ में घुसना तुम्हारे लिए सम्भव नहीं है। योगी नहीं होने की वजह से ही यह पहाड़ तुम्हें सघन और अवरोधक जान पड़ता है ॥ ७२ ॥

फिर भी मेरे पिताश्री की आज्ञा है। अतः किसी भी तरह तुम्हें ले ही जाना पड़ेगा। घास-फूस से ढके इस गड्ढे में तुम अपनी देह छोड़कर केवल मनोमय देह से तुम इस पहाड़ में मेरे साथ घुसो ॥ ७३$\frac{1}{2}$ ॥

यह सुनकर राजा ने कहा — मैं देह छोड़कर बाहर निकलने में बिलकुल असमर्थ हूँ। आप ही बतलाओ, इस देह को छोड़कर मैं कैसे बाहर निकलूँ ? यदि इसके साथ जबर्दस्ती करूँ तो मेरा तो सर्वनाश ही हो जायेगा ॥ ७४–७५ ॥

यह सुनकर मुनिकुमार ने कहा—ठीक ही तो बोलते हो, तुम योग जानते कहाँ हो ? ऐसा करो, तुम अपनी आँखें बन्द कर लो ॥ ७६ ॥

उसके ऐसा कहने पर महासेन ने आँखें बन्द कर लीं। फिर पलक झपकते ही उसके साथ मुनिकुमार उस विशाल पहाड़ में समा गया। पहले उसने राजा की सूक्ष्म देह को बाहर खींचकर स्थूल देह को गड्ढे में डाल दिया। फिर अपने योगबल से उसे साथ लेकर शिला में घुस गया। देह से अलग होते ही वह चेतनाशून्य हो गया। फिर इसकी संकल्पशक्ति-निर्मित देह पाते ही राजा सचेत हो गया। तब उसने देखा कि ऋषिकुमार उसे महाकाश में पकड़े ले जा रहा है ॥ ७७–७९ ॥

अपने ऊपर-नीचे, अगल-बगल बड़ा डरावना और बेहद आकाश-ही-आकाश

परित्यक्तो विनश्यामि पतिष्येऽहं निराश्रये।
इति भीतं नृपं दृष्ट्वा प्रहस्याऽऽह मुनेः सुतः ॥ ८१ ॥
परित्यज भयं भूप नोत्सृजामि निशामय।
एनं शैलान्तरस्थानं लोकं धैर्येण सर्वतः ॥ ८२ ॥
अथ धैर्यं समालम्ब्य नृपः समवलोकयन्।
अधो दूरे सनक्षत्रमभ्रमन्धतमोवृतम् ॥ ८३ ॥
प्रविश्य तं देशमपि ततोऽधस्तात् प्रपश्यत।
चन्द्रमण्डलमास्फीतं तत्राऽऽगत्य जडीकृतः ॥ ८४ ॥
चन्द्रमण्डलशीतेन मुनिपुत्रेण रक्षितः।
अथ प्राप्य सूर्यलोकं तत्करैरभितापितः ॥ ८५ ॥
मुनिपुत्रेण योगेन शिशिरीकृतदेहकः।
अपश्यल्लोकमखिलं स्वर्लोकप्रतिबिम्बवत् ॥ ८६ ॥
अथ शृङ्गे हेमगिरेर्मुनिना सह संस्थितः।
मुनिप्रदर्शितं सर्वमपश्यत् पृथिवीपतिः ॥ ८७ ॥
देशान्तरावलोकाय मुनिदत्तशुभेक्षणः।
अपश्यद् वलयात्मानं लोकालोकाख्यपर्वतम् ॥ ८८ ॥

देखकर वह बुरी तरह डर गया और घबरा कर कहा—'मुनिकुमार! आप मुझे छोड़ मत देना। आप अगर मुझे छोड़ दोगे तो मैं बेसहारा गिरकर मर जाऊँगा। इस तरह घबड़ाये राजा को देखकर हँसते हुए मुनिकुमार ने कहा—॥ ८०–८१ ॥

राजन्! मत डरो। मैं तुम्हें छोड़ूँगा नहीं। यह तो उस पहाड़ के भीतर मौजूद खास ढंग का लोक है। इसे धीरज के साथ चारों ओर देखो ॥ ८२ ॥

अब राजा ने जब सब्र के साथ देखा तो उसे बहुत दूर अंधेरे में डूबा टिमटिमाते तारों से भरा आकाश दिखायी दिया ॥ ८३ ॥

उस नक्षत्रलोक में घुसकर जब इसने नीचे की ओर देखा तो इसे महाविशाल चन्द्रमण्डल दीख पड़ा। वहाँ पहुँच कर जब ये ठंड से अकड़ने लगा तब मुनिपुत्र ने इसे ठंड से बचाया ॥ ८४½ ॥

फिर जब यह सूर्यलोक पहुँचा तो वहाँ यह सूर्य की किरणों से झुलसने लगा। फिर यौगिक क्रिया से उसने इसकी देह को ठंडा कर दिया। उसे ये समस्त लोक स्वर्ग की परछाई की तरह दिखायी दिये ॥ ८५–८६ ॥

फिर वह उस ऋषिकुमार के साथ ही हिमालय की चोटी पर उतरा। वहीं से उस बालमुनि के दिखलाने पर सारी वस्तुएँ देखने लगा ॥ ८७ ॥

वहाँ से ही अनेक देश-देशान्तरों को देखने की उसे दिव्यदृष्टि दे दी। फिर उसने अपने चारों ओर गोलाकार लोकालोक नामक पहाड़ को देखा ॥ ८८ ॥

तद्बहिर्ध्वान्तसन्दोहमन्तःसौवर्णमेदिनीम् ।
समुद्रान् सप्तद्वीपांश्च नदीगिरिसमाकुलान् ॥ ८९ ॥
भुवनान्यपि सर्वाणि चेन्द्राद्यान् विबुधोत्तमान् ।
दैत्यान् मनुष्यान् रक्षांसि यक्षकिम्पुरुषादिकान् ॥ ९० ॥
तत्राऽपश्यत् सत्यलोके वैकुण्ठे राजते नगे ।
मुनिपुत्रं स्वमात्मानं ब्रह्मविष्णुशिवात्मना ॥ ९१ ॥
विभज्य संस्थितं सर्वलोकसृष्टयादिहेतवे ।
अथोऽपश्यद् भूविभागे कृत्वा रूपान्तरं तथा ॥ ९२ ॥
प्रशासनपरो भूमेः सार्वभौमत्वमास्थितः ।
एवं मुनिकुमारस्य दृष्ट्वा योगर्द्धिमुत्तमाम् ॥ ९३ ॥
विस्मितोऽभून्महासेनस्ततः प्राह मुनेः सुतः ।
राजन्नेतल्लोकजातं पश्यतः काल अत्यगात् ॥ ९४ ॥
अर्बुदानां द्वादशकमितोऽप्यत्र दिनात्मकः ।
गच्छावो ब्राह्मलोकं तं यत्रास्ते जनको मम ॥ ९५ ॥
इत्युक्त्वा भूभृता तेन सह भूयः समागतः ।
पूर्ववत्तं गण्डशैलान्निर्गत्याभ्याययौ बहिः ॥ ९६ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे गण्डशैललोकावलोकने द्वादशोऽध्यायः ॥

उसके बाहर की ओर घोर अन्धेरा था और भीतर की ओर सुनहली धरती थी। इसके अलावा उसने सारे समुद्र, नदियाँ और पहाड़ों से भरे सातों द्वीप, चौदहों भुवन, प्रमुख देवता, दानव, मानव, राक्षस, यक्ष और किन्नर सब कुछ देखें ॥ ८९–९० ॥

वहाँ उसने यह भी देखा कि यह मुनिकुमार ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप में स्वयं को बाँटकर ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ और कैलाश में खुद मौजूद हैं ॥ ९१½ ॥

फिर उसने यह भी देखा कि धरती पर एक दूसरा रूप धारण कर सार्वभौम सम्राट् के रूप में शासन कर रहा है ॥ ९२½ ॥

मुनिकुमार की ऐसी योगशक्ति देखकर महासेन अचम्भित हुआ। तब मुनिपुत्र ने उससे कहा ॥ ९३½ ॥

राजन्! इन लोकों का उपभोग करते हुए मुझे बारह अरब साल बीत चुके हैं और यहाँ केवल एक दिन ही बीता है। अब हम बाहर चलें। वहाँ तप में लीन मेरे पिताश्री हैं ॥ ९४–९५ ॥

इतना कहने के बाद महासेन को साथ लेकर वह फिर लौट आया। जैसे पहाड़ में घुसा था उसी तरह फिर बाहर निकल आया ॥ ९६ ॥

बारहवाँ अध्याय समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

मुनिपुत्रः पुनः शैलान्महासेने विनिर्गते।
विधाय मूर्च्छितं लिङ्गदेहं संस्कारमात्रकम् ॥ १ ॥
समादाय विनिर्गत्य प्राक्षिपत्तच्छरीरके।
उत्थापयामास तु तं जीर्णदेहसुसङ्गतम् ॥ २ ॥
अथोत्थितो महासेनो बाह्यलोकं समीक्ष्य तु।
भुवं जनांस्तरून् स्रोतोह्रदादींश्चापि नूतनान् ॥ ३ ॥
बभूव विस्मितोऽत्यन्तं पप्रच्छ मुनिनन्दनम्।
कतमो वै महाभाग लोकोऽयं मे प्रदर्शितः ॥ ४ ॥
पुरादृष्टादपूर्वोऽयं समाचक्ष्वैतदद्भुतम्।
इत्यापृष्टो मुनिसुतो महासेनमुवाच ह ॥ ५ ॥
शृणु राजन्नयं लोकः पूर्वं योऽस्माभिरास्थितः।
स एव चिरकालेन परिणामान्तरं गतः ॥ ६ ॥
शैललोकगतानां नो दिनमेकं यदत्यगात्।
तावतैवाऽत्र कालेन द्वादशार्बुदवत्सराः ॥ ७ ॥
अतिक्रान्ता अतो लोकस्त्वयं रूपान्तरं गतः।
भिन्नां व्यवहृतिं पश्य भाषां चापि समन्ततः ॥ ८ ॥

महासेन को पहाड़ से बाहर निकालते समय उसकी लिङ्गदेह को मुनिपुत्र ने बेहोश कर दिया था। उसकी भावनात्मक देह को लेकर उसकी स्थूलदेह में डाल दिया। पहली देह में जगह पाते ही उसने उसे होश में ला दिया ॥ १–२ ॥

होश आने पर महासेन ने जब बाहरी दुनिया को देखा तब दंग रह गया। धरती, आदमी, पेड़, सोतें और सरोवर सब-के-सब नये ही रूप में दीखे। उसने ऋषिकुमार से पूछा—महाभाग! आपने यह कौन-सा लोक मुझे दिखला दिया ॥ ३–४ ॥

मैंने पहले जिस देश को देखा था, उससे तो यह अलग है। यह तो बड़े ताज्जुब की बात है। ऐसा पूछने पर उस किशोर मुनि ने कहा ॥ ५ ॥

सुनो राजन्! यह वही जगह है जहाँ हम लोग पहले रहते थे। केवल बहुत दिन बीत जाने की वजह से यह बदली नजर आती है ॥ ६ ॥

पहाड़ की दुनिया में घूमते हमें जो एक दिन बीता था, उतने में ही यहाँ बारह अरब साल निकल गये हैं। यह इसीलिए बदला हुआ नजर आता है। यहाँ का बरताव बदल गया है। यहाँ की बोली भी बदल गई है ॥ ७–८ ॥

एवमेव जनानां तु कालेन भिद्यते स्थितिः।
एवं मया तु बहुधा दृष्टा भिन्ना जगत्स्थितिः ॥ ९ ॥
पश्यैवमेष भगवान् समाहितमतिः पिता।
सोऽयं देशो यत्र पूर्वं त्वया मे संस्तुतः पिता ॥ १० ॥
एनं पश्य महाशैलं यत्र मे लोक ईक्षितः।
त्वद्भ्रातुर्वंशपुरुषा अतिक्रान्ताः सहस्रशः ॥ ११ ॥
यत्ते परं वङ्गदेशे सुन्दराख्यं स्थितं पुरा।
तत्राऽभूत् सम्प्रति बनं व्याप्तं श्वापदमण्डलैः ॥ १२ ॥
त्वद्भ्रातुर्वंशजः सद्यो वीरबाहुरिति श्रुतः।
मालवेशो विशालाख्ये क्षिप्रातीरे पुरेऽस्ति हि ॥ १३ ॥
तद्वंश्योऽपि सुशर्माख्यो द्राविडेष्वभवन्नृपः।
वर्द्धने नाम नगरे ताम्रपर्णीसरित्तटे ॥ १४ ॥
लोकस्थितिरियं चेत्थं सर्वदा परिवर्त्तते।
अल्पकालेनैवमेतदभवन्नूतनं जगत् ॥ १५ ॥
इतोऽपि चिरकालेन नगा नद्यो ह्रदा भुवः।
अन्यथाभावमायान्ति एवमेव जगद्-गतिः ॥ १६ ॥

इसी तरह समय के साथ लोगों की हालत में बदलाव होता रहता है। मैंने अनेक बार इस दुनिया की बदलती दशा देखी है ॥ ९ ॥

देखो, यह वही जगह है जहाँ मेरे परमादरणीय पिता समाधि में लीन हैं। वही जगह है जहाँ तुमने इनकी स्तुति की थी ॥ १० ॥

सामने फैले इस बड़े पहाड को भी देखो, जिसके भीतर तुमने मेरी करा देखी। तुम्हारे भाई के खानदान में भी अब तक हजारों पीढ़ी-दर-पीढ़ियाँ नि चुकी हैं ॥ ११ ॥

तुम्हारे बंगाल में जहाँ पहले सुन्दरपुर नाम का पहाड़ी खूबसूरत शहर बसा वहाँ अब जानलेवा जानवरों से भरा एक बड़ा जंगल है ॥ १२ ॥

तुम्हारे भाई के वंश में पैदा वीरबाहु नामक एक विख्यात राजा है। मालव-नरेश कहलाता है। क्षिप्रा नदी के किनारे विशाल नामक नगर में रहता है ॥ १३ ॥

उसी खानदान में पैदा हुए दक्षिण भारत के द्रविड़ देश में सुशर्मा नामक राजा है। ताम्रपर्णी नदी के किनारे वर्द्धन नामक शहर में उसकी राजधानी है ॥

दुनिया की यह दशा हमेशा इसी तरह बदलती रहती है। थोड़े ही समय मे दुनिया नई नजर आने लगती है ॥ १५ ॥

बहुत दिन बीत जाने के बाद आगे भी ये पहाड, नदियाँ, तालतलैये और स सब-के-सब कुछ दूसरे ही ढंग के हो जायेंगे। दुनिया की यही चाल है ॥ १६ ॥

गिरयो निम्नतां यान्ति निम्नदेशा महोच्चताम् ।
मरुदेशास्त्वनूषाः स्युः पर्वता बालुकामयाः ॥ १७ ॥
कठिना भूः शिलाप्राया भवेदत्यन्तकोमला ।
कोमला भूरपि भवेत् पाषाणसदृशी क्वचित् ॥ १८ ॥
ऊषरा भूरुर्वरा स्यादुर्वरोषररूपिणी ।
रत्नानि शर्कराः स्युर्वै रत्नात्मानस्तु शर्कराः ॥ १९ ॥
क्षारं जलं स्वादुरसं मधुरं क्षारतां गतम् ।
कदाचिन्नरबाहुल्यं कदाचित् पशुसञ्चयम् ॥ २० ॥
कदाचित् कृमिकीटादिप्रचुरं जगदीक्षितम् ।
एवमेतज्जगत् कालभेदात् परिणतं पृथक् ॥ २१ ॥
तस्मादयं पुराऽस्माकं लोक एवेदृशः स्थितः ।
इत्याकर्ण्य मुनिसुतवाक्यं स च महीपतिः ॥ २२ ॥
महासेनोऽत्यन्तशोकाविष्टो मूर्च्छामुपागतः ।
मुनिपुत्रसमाश्वस्तः प्रज्ञामासाद्य भूपतिः ॥ २३ ॥
अत्यन्तशोकसंविष्टो विललाप सुदीनवत् ।
भ्रातरं भ्रातृपुत्रांश्च दारान् स्वात्मज एव च ॥ २४ ॥
पुत्रादींश्च पृथक् स्मृत्वा विललापाऽतिदुःखितः ।

पहाड़ गड्ढे में बदल जाते हैं। निचली धरती बहुत ऊपर उठ जाती है। रेगिस्तान जरखेज जमीन बन जाते हैं और पहाड़ियाँ बालू का ढेर बन जाती हैं ॥१७॥

पथरीली धरती मुलायम बन जाती है और कोमल धरती कंकरीली बन जाती है ॥ १८ ॥

खारी जमीन उपजाऊ बन जाती है और उपजाऊ धरती ऊसर बन जाती है। इसी तरह रत्न रोड़े में बदल जाते हैं और रोड़े रत्न की सकल ले लेते हैं ॥ १९ ॥

कभी खारा पानी मीठा बन जाता है तो कहीं मीठा पेय खारा बन जाता है। कहीं आदमी ज्यादे होते हैं तो कहीं जानवरों का झुण्ड दीखलाई पड़ता है ॥ २० ॥

एक समय ऐसा था जब इस धरती पर कीड़े-मकोड़े ही बहुत ज्यादे दीखते थे। इस तरह समय के साथ यह दुनिया बदलती रहती है ॥ २१ ॥

इसीलिए हमारी पहली जगह ही इस समय ऐसी लगती है। बालमुनि की ऐसी बात सुनकर महासेन गमगीन होकर बेहोश हो गया ॥ २२½ ॥

उस बालमुनि के बहुत ज्यादे समझाने पर वह होश में आया। फिर वह गमगीन होकर कातर की तरह रोने लगा ॥ २३½ ॥

वह अपने भाई, भतीजे, बेटे और पत्नी को अलग-अलग याद कर बहुत दुःखी होकर रोने लगा ॥ २४½ ॥

अथ तं मोहतो भ्रातृमुखान् शोचन्तमञ्जसा ॥ २५ ॥
मुनिपुत्रो वचः प्राह बुबोधयिषया नृपम् ।
राजंस्त्वं बुद्धिमान्नूनं तत्किमर्थं हि शोचसि ॥ २६ ॥
बुद्धिमन्तो हि विफलं जातु कुर्वन्ति कर्म नो ।
अविमृश्य फलं यस्तु कर्म कुर्यात् स बालिशः ॥ २७ ॥
तत्त्वं शोचसि कं ब्रूहि किमर्थं वा हि शोचनम् ।
इत्युक्तः प्राह तं भूपो महासेनोऽतिदुःखितः ॥ २८ ॥
किं न पश्यसि शोकस्य स्थानं मम महामुने ! ।
सर्वं यस्य हृतं तस्य कारणं पृच्छसीह किम् ॥ २९ ॥
एकस्मिन्नपि शोकः स्याद्धते लोकस्य सर्वथा ।
कुतस्त्वं पृच्छसि पुनः सर्वनाशे ह्युपस्थिते ॥ ३० ॥
इत्युक्तो मुनिपुत्रोऽपि भूयः प्राह हसन्निव ।
राजन् ब्रूहि किमेतत्ते कुलधर्मः सनातनः ॥ ३१ ॥
यच्छोचनमकृत्वा तु प्रत्यवायो महान् भवेत् ।
अथवा शोचिते नष्टं प्राप्यते भूय एव तत् ॥ ३२ ॥
राजन् विमृश धैर्येण शोचिते किं फलं भवेत् ।
नष्टेषु बन्धुषु यदि शोचितव्यं तदा शृणु ॥ ३३ ॥

इस तरह उसे प्यार की वजह से आदतन अपने लोगों के लिए गमगीन होते देख उसे समझाने के लिए मुनिकुमार ने कहा ॥ २५३ ॥

राजन् ! तुम तो बड़े समझदार हो, फिर गम क्यों करते हो ? होशियार लोग तो कभी फिजूल काम नहीं करते । जो आदमी बिना नतीजा सोचे ही कुछ कर गुजरता है, वही मूर्ख है ॥ २६–२७ ॥

"अच्छा, तुम यह तो बतलाओ, तुम्हारी यह गमी किसके लिए है और क्यों है ?" इस तरह पूछने पर महासेन ने बहुत ज्यादे गमगीन होकर कहा ॥ २८ ॥

मुनिवर ! क्या आपको मेरी गम की वजह दीख नहीं पड़ती ? भला, जिसका सब कुछ लुट जाय उससे आप शोक का कारण क्यों पूछ रहे हैं ? ॥ २९ ॥

जिसका कोई एक रिश्तेदार मर जाता है, उसके गम का तो ठिकाना नहीं रहता, फिर मेरा तो सब-का-सब खतम हो गया, आप इस तरह पूछ कैसे रहे हैं ? ॥ ३० ॥

इस तरह कहने पर मुनिकुमार ने हँसते हुए कहा — राजन् ! यह तो बतलाओ, किसी के मरने पर शोक मनाना क्या तुम्हारा अनादिकाल से होता आनेवाला खानदानी रिवाज है ? जिससे गम न करने पर कोई बहुत बड़ा नुकसान हो जायेगा ? या गम करने से तुम्हें खोयी वस्तु मिल जायेगी ? ॥ ३१–३२ ॥

राजन् ! थोड़ा धीरज के साथ सोचो कि इस तरह गम करने से क्या फायदा होगा ? यदि मरे हुए रिश्तेदारों के लिए गम करना जरूरी हो तो फिर गुजरे जमाने

अतीता बन्धवो नष्टाः पितामहमुखाः खलु ।
तत् सर्वदा शोचितव्यं कुतः सर्वं न शोचितम् ॥ ३४ ॥
अथ ते बन्धवः कस्य बन्धुत्वं वा कुतस्तव ।
मातापित्रोः स्वस्य वाऽपि पुरीषकृमयो हि ये ॥ ३५ ॥
असङ्ख्याताः स्वदेहोत्था देहसम्बन्धिनोऽपि च ।
न ते स्युर्बन्धवः कस्मात् कुतो वा ते न शोचिताः ॥ ३६ ॥
राजन् विमृश कस्त्वं वै कान् विनष्टान् प्रशोचसि ।
देहस्त्वं देहभिन्नो वा देहः सङ्घातरूपकः ॥ ३७ ॥
सङ्घातस्यैकदेशस्य वा नाशान्नाश उच्यते ।
प्रतिक्षणं त्वेकदेशनाशो देहस्य भावितः ॥ ३८ ॥
मूत्रोच्चारश्लेष्मनखकेशादेः सन्ततं न यः ।
सर्वात्मना तु सङ्घातनाशो न हि विभाव्यते ॥ ३९ ॥
भ्रात्रादेस्तव देहांशः स्यात् पृथिव्यादिषु स्फुटम् ।
अन्ततो देहगगनमविनाश्यस्ति केवलम् ॥ ४० ॥
न त्वं देहः किं तु देही मद्देह इति भाषसे ।
यथा मद्वस्त्रमित्येवं स देहस्त्वं कथं वद ॥ ४१ ॥

... जो तुम्हारे सगे-सम्बन्धी मर चुके हैं, उनके लिए हमेशा शोक ही मनाते रहना चाहिए था, तो फिर उन सबके लिए तुमने गम क्यों नहीं किया ? ॥ ३३–३४ ॥

अच्छा, तो तुम्हारे वे रिश्तेदार भी दरअसल किसके थे और तुम्हारे साथ भी उनका रिश्ता कैसे हुआ ? देखो, माँ-बाप या अपने भी पाखाने में जो बेशुमार कीड़े होते हैं, वे अपनी देह से ही तो पैदा होते हैं। फिर इस देह से उनके नाते भी तो हैं। इन्हें अपने रिश्तेदार क्यों नहीं मानते ? और इनके लिए तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥ ३५–३६ ॥

हे राजन् ! जरा सोचो, दरअसल तुम कौन हो ? किन मरे हुए लोगों के लिए तुम शोक कर रहे हो ? तुम देह हो या देह के अलावा कुछ और ? देह तो पंचभूतों का समूह है ॥ ३७ ॥

उस पाँचभौतिक समूह की या उसके एक हिस्से की बरबादी को ही बरबाद होना कहते हैं। और देह के एक-एक टुकड़े का छीनना तो हर पल माना ही जाता है। जैसे—पेशाब, पाखाना, कफ और नख-बाल तो लगातार छीनते ही रहते हैं। फिर इस समूह की बरबादी तो कभी मानी ही नहीं जाती ॥ ३८–३९ ॥

तुम्हारे भाई जैसे रिश्तेदारों की देहों का हिस्सा तो इन पञ्चभूतों में साफ-साफ देखा जा सकता है। अगर इनका भी नाश मान लिया जाय तो कम-से-कम इस देह में रहनेवाली निखालिस आत्मा तो कभी खत्म होनेवाली नहीं है ॥ ४० ॥

दरअसल तुम देह नहीं, इस देह का मालिक हो। जैसे 'यह मेरा कपड़ा' कहते

यदि त्वं देहभिन्नोऽसि सम्बन्धः कोऽन्यदेहकैः ।
यथा भ्रात्रादिवासोभिर्नास्ति सम्बन्धलेशकः ॥ ४२ ॥
अविशेषात्तच्छरीरैर्विनष्टैस्तैः कथं शुचा ।
मच्छरीरं मदक्षाणि मत्प्राणो मन्मनस्त्विति ॥ ४३ ॥
वदन् भवान् किंस्वरूपो वद मे पृच्छते नृप ! ।
एवमुक्तो महासेनो मुहूर्तं सुविचार्य तु ॥ ४४ ॥
अप्राप्य तं मुनेः प्रश्नं प्राह दीनतरस्ततः ।
न जाने भगवन् कोऽहमिति सर्वात्मनाऽप्यहम् ॥ ४५ ॥
स्वभावतस्तु शोचामि कारणं तत्र नाविदम् ।
प्रपन्नस्त्वामहं दीनः किमिदं भगवन् वद ॥ ४६ ॥
सर्वे शोचन्ति यत् कस्मिन्नपि बन्धौ मृते सति ।
न स्वात्मानं विजानन्ति नाऽन्यं शोचन्ति चैव हि ॥ ४७ ॥
एतन्मे ब्रूहि भगवन् शिष्याय तव वै स्फुटम् ।
इति पृष्टो मुनिसुतो महासेनमथाऽब्रवीत् ॥ ४८ ॥
राजन् शृणु महादेव्या मायया मोहिता जनाः ।

हो, उसी तरह 'यह मेरी देह' भी कहते हो । अब तुम्हीं बताओ, तुम देह कैसे हो सकते हो ? ॥ ४१ ॥

यदि तुम इस देह से भी अलग हो तो दूसरों की देह से भी तुम्हारा क्या नाता हो सकता है ? जैसे सगे-सम्बन्धियों के कपड़े से तुम्हारा कोई लगाव नहीं है और देह तथा कपड़ों में यदि भेद नहीं है तो फिर देह के खत्म होने पर तुम्हें शोक क्यों होता है ? ॥ ४२½ ॥

राजन् ! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ, बतलाओ; जब तुम 'मेरी देह', 'मेरी इंद्रियाँ', 'मेरी जान', 'मेरा मन' – इस तरह कहते हो तब तुम्हारा रूप क्या हुआ ? ॥ ४३½ ॥

इस तरह पूछे जाने पर कुछ देर तक महासेन सोचता रहा और जब उस बाल-मुनि के सवाल का कोई जवाब नहीं मिला तब गिड़गिड़ाते हुए वह बोला – 'पूज्यवर ! हर तरह सोचकर मैं थक गया, पर मैं यह जान नहीं सका कि मैं कौन हूँ ? मैं केवल आदतन गम कर रहा हूँ, पर इस गम की वजह समझ में नहीं आती । मैं दुखिया आपकी शरण में हूँ । पूज्यवर ! बतलाइए, यह सब क्या है ? ॥ ४४–४६ ॥

किसी भी नातेदार की मौत पर तो सब रोते-कलपते हैं । वे भी न तो अपने आपको जानते हैं और न वे दूसरों के सही रूप को पहचानते हैं । फिर भी दुःखी होते हैं ॥ ४७ ॥

श्रीमान् ! मैं तो आपका शिष्य हूँ, 'यह क्या है ?' साफ-साफ मुझे समझा दीजिए । इस तरह महासेन के पूछने पर मुनिकुमार ने कहा ॥ ४८ ॥

स्वात्मानमविदित्वैव व्यर्थं शोचन्ति सर्वदा ॥ ४९ ॥
यावन्न विदितं स्वात्मसतत्त्वं तावदेव वै ।
जनाः शोचन्ति विज्ञाय भूयः शोचन्ति न क्वचित् ॥ ५० ॥
यथा निद्रामोहितात्मा स्वमविज्ञाय शोचति ।
ऐन्द्रजालिकमन्त्रोत्थमायया मोहितो नरः ॥ ५१ ॥
तत्प्रकल्पितसर्पादिभीत्या यद्वद्धि शोचति ।
तथैव मायया मुग्धः स्वमज्ञात्वा प्रशोचति ॥ ५२ ॥
यथा स्वप्नात् प्रबुद्धो वा ज्ञातैन्द्रजालिकागमः ।
न शोचति क्वचिच्चान्याञ्शुचा युक्तान् हसत्यपि ॥ ५३ ॥
एवं स्वात्मविदो मायामुक्ताः शोचन्ति न क्वचित् ।
शोचतस्त्वादृशान् मायामूढान् प्रविहसन्ति च ॥ ५४ ॥
तत्त्वं विज्ञायात्मतत्त्वं मायामुत्तीर्य दुर्गमाम् ।
जहि शोकं महाबाहो ! मोहोत्थं सद्विमर्शनात् ॥ ५५ ॥
इत्युक्तः पुनरप्याह महासेनो मुनीश्वरम् ।
भगवन् यस्त्वया प्रोक्तो दृष्टान्तो विषमः स हि ॥ ५६ ॥
स्वाप्नो वा मायिको वाऽपि शून्यात्मा भासते परम् ।
अयं जाग्रत्प्रपञ्चस्तु सत्यः सर्वार्थसाधकः ॥ ५७ ॥

सुनो राजन् ! देवी महामाया के प्रभाव से आदमी अपना सही रूप बिना जाने-[illegible] ही बेकार ही दुःखी होते हैं ॥ ४९ ॥

जब तक आदमी अपनी आत्मा के सही रूप को नहीं जानता तभी तक वह शोक [illegible] है। उसे जान लेने पर कभी दुःखी नहीं होता ॥ ५० ॥

वस्तुस्थिति से अनजान सपने में डरा हुआ आदमी जैसे दुःखी होता है तथा [illegible] जादूगर के जादू से प्रभावित आदमी उसकी बाजीगरी करिश्मे से बनाये साँप [illegible]कर बहुत ज्यादे घबड़ा जाता है; उसी तरह मायामुग्ध अपने से अनजान आदमी [illegible] पर दुःखी होता है ॥ ५१–५२ ॥

जैसे सपने से जगा हुआ तथा जादू जानने वाला आदमी इससे कभी दुःखी नहीं [illegible], बल्कि इससे घबड़ाने वाले लोगों को देखकर हँसता भी है; इसी तरह आत्मा के [illegible] को पहचानने वाले मायामुक्त महापुरुष कभी दुःखी होते ही नहीं, प्रत्युत [illegible] जैसे शोक करने वाले मायामोहित लोगों को देखकर हँसते हैं ॥ ५३–५४ ॥

[illegible] तुम इस आत्मा के रहस्य को जानकर औघट (दुर्गम) माया को पार [illegible] और हे महाबाहो ! अविनाशी आत्मा को जानकर मोहजनित दुःख को दूर [illegible] ॥ ५५ ॥

[illegible] कहने पर महासेन ने फिर उनसे पूछा – भगवन् ! आपने जो सपने और [illegible] का उदाहरण दिया, वह कुछ ठीक नहीं जँचता ॥ ५६ ॥

[illegible] और जादू का जो जंजाल है उसके पीछे तो कुछ नहीं है, किन्तु यह

अबाधितः स्थिरश्चापि कथं स्वाप्नसमो भवेत् ।
इत्युक्तः पुनराचख्यौ मुनिपुत्रोऽतिबुद्धिमान् ॥ ५८ ॥
शृणु राजन् ! यत्त्वयोक्तं दृष्टान्तो विषमस्त्विह ।
एष मोहो द्वितीयस्ते स्वप्ने स्वाप्नस्य यादृशः ॥ ५९ ॥
स्वाप्नवृक्षोऽपि तत्काले किं न साधयते हितम् ।
पान्थानां किं न हरति तापं छायाप्रदानतः ॥ ६० ॥
फलाद्यैः स्वाप्नमर्त्यादीन्न तर्पयति किं वद ।
स्वप्ने क्व बाधितः स्वाप्नः क्वास्थिरश्चोपलक्षितः ॥ ६१ ॥
अखिलं बाधितं जाग्रद्दशायामिति चेच्छृणु ।
जाग्रत्प्रपञ्चोऽपि सर्वः सुषुप्तौ किं न बाधितः ॥ ६२ ॥
न बाधितः परदिनेऽप्यनुवृत्तेस्तथेति चेत् ।
स्वाप्नस्यापि परदिने नाऽनुवृत्तिः क्व वा वद ॥ ६३ ॥
नाऽनुवृत्तिर्भाति स्वप्ने इति चेन्नृपते ! शृणु ।
जाग्रत्यपि क्वानुवृत्तिभासो नव्याऽवभासके ॥ ६४ ॥
नव्येऽनुवृत्त्यभानेऽपि भात्यन्यत्रेति चेच्छृणु ।

जाग्रत् प्रपंच तो सच्चा है; हर तरह के काम पूरा करने वाला है। इसमें तो किसी तरह की रुकावट नजर नहीं आती। यह स्थिर भी है, फिर यह सपने की तरह कैसे हो सकता है ? यह सुनकर बुद्धिमान् मुनिकुमार ने कहा ॥ ५७–५८ ॥

सुनो राजा, तुम ने जो कहा कि 'सपने और जादूगरी का उदाहरण यहाँ ठीक नहीं बैठता' यह तुम्हारी दूसरी भूल है। जैसे सपने में सपना देखने वाले को कोई दूसरी भूल हो जाय ॥ ५९ ॥

सपने में दीखने वाला पेड़ क्या सपने के समय फायदेमन्द नहीं होते ? क्या उस समय छाया देकर राही की थकावट दूर नहीं करते ? ॥ ६० ॥

या फल देकर सपने के आदमी को वे नहीं अघाते। क्या सपने की चीज कभी सपने में रोकी जा सकती है या डावाँडोल होती है ? ॥ ६१ ॥

यदि यह कहो कि सपने के सारे दृश्य जगने पर तो रुक ही जाते हैं। तो सुनो, जगे हुए का सारा जंजाल सपने में रुक नहीं जाता ॥ ६२ ॥

यदि कहो, दूसरे दिन भी तो वह दुहराती है, इसलिए उसकी रुकावट नहीं होती, तो फिर तुम्हीं बताओ, सपने में देखी गई वस्तु दूसरे दिन क्या याद नहीं आती ? ॥ ६३ ॥

यदि कहो सपने में पहले का दृश्य दुहराता नहीं तो सुनो जागने पर भी इस दुहराने का ज्ञान नहीं होता। उस अवस्था में भी तो नई-नई चीज ही दीखती है ॥ ६४ ॥

यदि कहो कि नये-नये पदार्थों की प्रतीति होने पर भी धरती प्रभृति पदार्थ तो

तथा स्वप्नेऽपि भात्येवाऽनुवृत्तिः स्थिरभासने ॥ ६५ ॥
मृषानुवृत्तिस्तत्रेति चेज्जाग्रत्यपि सा तथा ।
सूक्ष्मबुद्धया विमृश तद्वस्तु जाग्रति संस्थितम् ॥ ६६ ॥
देहवृक्षनदीदीपादिकं क्षणविभेदितम् ।
कथं तदनुवृत्तिर्वै भवेदवितथात्मिका ॥ ६७ ॥
अचलानामपि न हि द्वितीयक्षणसङ्गतम् ।
रूपमस्ति सर्वदैव निर्जरैर्भेदितात्मनाम् ॥ ६८ ॥
मूषकैरुपदीकाभिः शूकरैर्निर्झरादिभिः ।
सर्वतस्तु विभिद्यन्ते पर्वताः सर्वदैव हि ॥ ६९ ॥
पर्वताम्बुधिभूमुख्या अप्येवं क्षणभेदिनः ।
अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि पश्य सूक्ष्मधिया नृप ! ॥ ७० ॥
परिच्छिन्नाऽनुवृत्तिर्हि समैव स्वाप्नजाग्रतोः ।
अपरिच्छिन्नाऽनुवृत्तिः कार्येष्वत्यन्तदुर्लभा ॥ ७१ ॥
अनुवृत्तिः कारणेन ...ऽस्ति हि सर्वदा ।
इति चेत्कारणं ... पृथिव्यादिमयं किल ॥ ७२ ॥
तच्चाऽनुवृत्तस्वप्नेऽपि पृथिव्यादेर्हि भासनात् ।

...-के-तैसे ही रहते है, तो फिर सपने भी स्थायी पदार्थों के साथ कुछ ... ...हराती ही रहती हैं ॥ ६५ ॥

यदि तुम्हारे विचार से सपने का दुहराना झूठा है तो जगने पर भी ... वह ...ति वैसी ही है। जगे हुए में उन स्थिर वस्तुओं के बारे में जरा सोचो तो ॥ ६६ ॥

देह, पेड़, नदी और दीये प्रभृति तो पल-पल में बदलते ही रहते हैं। फिर उनका ...राना सच कैसे हो सकता है ? ॥ ६७ ॥

पहाड जैसे अचल माने जाने वाली वस्तु भी तो प्रकृति के प्रभाव में ...ते ही ... हैं, वे भी तो जैसे-के-तैसे नहीं रहते ॥ ६८ ॥

चूहे, दीमक, सूअर और झरनों की वजह से पहाड़ में हर जगह बदलाव होता ... इस तरह समुद्र और पहाड़ भी पल-पल बदलने वाले ही हैं ॥ ६९ ॥

अब जो मैं कहता हूँ उस पर थोड़ा गौर करो। थोड़ी अनुरूपता तो सपने में ...र जगने में समान रूप से होती ही है। यों काम के समूह में अनुवृत्ति खोजना तो ...भव ही है ॥ ७०-७१ ॥

यदि कहा जाय, कारण रूप से तो जाग्रत् अवस्था में भी हमेशा पदार्थों की ...वृत्ति होती ही रहती है। तो कारण का स्वरूप तो पृथ्वी आदि पंचभूतमय ही ... तो सपने में भी अनुवृत्त होते ही हैं, क्योंकि वहाँ भी पंचभूतों का बोध होता ... है ॥ ७२ ॥

...कहा जाय, सपने में दीखने वाली वस्तु तो जगने पर नहीं दीख पड़ती है।

अथ स्वाप्नस्य बाधो हि जाग्रति ह्यनुभूयते ॥ ७३ ॥
न जागरस्य बाधस्तु भासते कस्यचित् क्वचित् ।
इति चेच्छृणु वक्ष्यामि बाधो ह्यनवभासनम् ॥ ७४ ॥
सुषुप्तौ सर्वजगतोऽप्यनुभूतं ह्यभासनम् ।
अथ बाधो ह्यप्रमाणदर्शनं चेत्तदा शृणु ॥ ७५ ॥
अप्रमाणदृशिर्नास्ति भ्रान्तानां त्वादृशां खलु ।
ज्ञातविज्ञेयतत्त्वानामप्रामाण्यदृशिः स्फुटा ॥ ७६ ॥
तस्मादिदं दृश्यजालं स्वाप्नदृश्यसमस्थितिः ।
दीर्घकालोऽपि च स्वप्ने भासते निर्विशेषतः ॥ ७७ ॥
तस्मादबाधितो ह्यर्थक्रियाकारी स्थिरोऽपि च ।
स्वाप्नभावस्तेन तुल्यो जाग्रद्भावोऽपि सर्वशः ॥ ७८ ॥
यथा जाग्रति जाग्रत्त्वं गृहीतं जागरे स्फुटम् ।
स्वप्नेऽपि जागरत्वं तु गृहीतं तद्वदेव हि ॥ ७९ ॥
एवं स्थिते कुतो राजन् विशेषः स्वप्नजाग्रतोः ।
तत्स्वाप्नान्निजबन्धूंस्त्वं न हि शोचसि वै कुतः ॥ ८० ॥
केवलं भावनामात्रात् सत्यता जगति स्थिता ।
शून्यताभावनेनाऽपि शून्यं निष्प्रतिघं भवेत् ॥ ८१ ॥

किन्तु जगने की स्थिति का बाध कभी किसी को नहीं दीखता तो इसका जवाब है — 'बाध' का अर्थ 'नहीं दीखना' सो तो सपने में सारी दुनिया का 'न दीखना' महसूस होता है ॥ ७३-७४½ ॥

और 'बाध' का अर्थ तुम यदि 'अप्रमाण दर्शन' अर्थात् 'झूठ देखना' करो तो सुनो तुम जैसे भ्रान्त लोगों ! वह 'अप्रमाण दर्शन' की आँख नहीं है। जिस महापुरुष को ज्ञेयतत्व की पहचान होती है, उन्हें ही स्पष्टतः अप्रमाण दर्शन की दृष्टि होती हैं ॥ ७५-७६ ॥

अतः यह दुनिया का जंजाल सपने की ही तरह है। सपने में भी समान रूप से लम्बे अरसे की प्रतीति होती ही है ॥ ७७ ॥

अतः सपने में सपने की सृष्टि भी बाधित न होने वाली, प्रयोजन पूरा करने वाली और स्थिर ही है। संसार की सृष्टि भी बिलकुल उसी की तरह है ॥ ७८ ॥

जगने पर जैसे 'यह दुनिया है' इसका साफ-साफ बोध होता है। उसी तरह सपने में भी लगता है कि यह जाग्रत् ही है ॥ ७९ ॥

हे राजा ! बताओ, इस हालत में भला जगने और सपने में क्या फर्क है ? फिर तुम अपने सपने के नातेदारों के लिए शोक क्यों नहीं करते ? ॥ ८० ॥

केवल विचार से ही दुनिया में सच्चाई दीख पड़ती है। यदि इसमें शून्यता की भावना की जाय तो यह शून्य एवं रुकावट रहित जान पड़ेगी ॥ ८१ ॥

भावना ह्यप्रमाणत्ववैधुर्येण स्थिरीकृता।
भवेत्तदात्मभावेन सत्यमेतन्महीपते ! ॥ ८२ ॥
निदर्शनं त्वत्र चेदं यज्जगद् दृष्टमेव ते।
इमं शैलं परिक्रम्य यौ हि पश्याव सम्प्रति ॥ ८३ ॥
इत्युक्त्वा नृपतिं हस्ते गृहीत्वा परिचक्रमे ।
परिक्रम्य गण्डशैलं राज्ञा सह समेत्य तु ॥ ८४ ॥
पुनः प्राह महासेनं मेधावी मुनिनन्दनः।
राजन् ! दृष्ट एष शैलः पादगव्यूतिमात्रकः ॥ ८५ ॥
दृष्ट एवास्य गर्भे ते लोकः सुविततः स्फुटः।
एष जाग्रदुत स्वप्नः सत्यो मिथ्यात्मकोऽपि वा ॥ ८६ ॥
शैललोके यद्दिनैकं तदत्र द्वादशार्बुदाः।
वत्सरास्त्वनुभूतास्ते सत्यासत्ये विवेचय ॥ ८७ ॥
विवेचनं नास्य भवेत् स्वप्नयोर्भिन्नयोरिव।
तस्मादेतद्विद्धि जगद्भावनामात्रसारकम् ॥ ८८ ॥
अभाव्यमानं चैतत्तु लीयेत क्षणमात्रतः।
तस्माच्छोकं जहि नृपावेक्ष्य स्वाप्नसमं जगत् ॥ ८९ ॥
स्वाप्नचित्रभित्तिभूतं स्वात्मानं संविदात्मकम्।
दर्पणप्रतिमं मत्वा संस्थितोऽसि यथा तथा ॥ ९० ॥

इस विचार में झूठापन की बुद्धि नहीं होने की वजह से यह खयाल मजबूत हो गया है। आत्मभाव होते ही यह सचमुच भावना ही तो जान पड़ेगी ॥ ८२ ॥

इस समय तुमने जो दुनिया देखी है, वह तो इसका एक उदाहरण मात्र है। यदि चाहो तो इस पहाड़ को घूमकर फिर देख लो ॥ ८३ ॥

इतना कहकर उस बालमुनि ने राजा का हाथ पकड लिया और पहाड़ के चारों ओर उसे घूमाकर फिर उससे कहा—॥ ८४ ॥

राजन् ! तुमने देखा, यह पहाड़ मुश्किल से एक मील अर्थात् आधा कोस है। पर इसके भीतर साफ तौर पर एक बहुत बड़ी दुनिया देखी है। यह जाग्रत् था कि सपना ? सच था या झूठ ? ॥ ८५–८६ ॥

पहाड़ के भीतर जो एक दिन था, वही यहाँ तुम्हारे विचार में बारह अरब साल हुए। इन दोनों अनुभव में सच और झूठ का तुम खुद निर्णय करो ॥ ८७ ॥

अलग-अलग दो सपने की तरह एक को सच और दूसरे को झूठ कहकर विवेचन नहीं किया जा सकता। मतलब, यह सारी दुनिया एक भावना मात्र है ॥ ८८ ॥

यदि भावना न हो तो यह एक पल में खत्म हो जाय। अतः राजन् ! शोक छोड़ दो। इस दुनिया को भी एक सपना ही समझो ॥ ८९ ॥

जाग्रच्चित्रदर्पणं चावेह्यात्मानं चिदात्मकम् ।
परमानन्दितस्वान्तो भव शीघ्रं महीपते ! ॥ ९१ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे शैललोकदर्शनं नाम
त्रयोदशोऽध्यायः ॥

संसार रूपी सपने की तसवीर की दीवार अपनी ही चित्स्वरूपा आत्मा है । उसे आईने की तरह इसका आधार मान कर तुम जैसे चाहो रहो ॥ ९० ॥

पृथ्वीपति ! अपनी चैतन्य आत्मा को जगी स्थिति की परछाईं का दर्पण मान कर तुम अपने भीतर परमानन्द का अनुभव करो ॥ ९१ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

इत्याकर्ण्य मुनिवचो विचार्य शुभया धिया।
जगत्स्थितिं स्वाप्नसमां ज्ञात्वा शोकं जहौ द्रुतम् ॥ १ ॥
धैर्यमालम्ब्य निःशोको भूयोऽपृच्छन्मुनेः सुतम्।
मुनिपुत्र ! महाबुद्धे ! त्वं पराऽवरदर्शनः ॥ २ ॥
ततोऽप्यविदितं किञ्चिन्मन्ये स्यादिति लेशतः।
पृच्छामि यदहं तन्मे कृपया वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥
भावनाप्रभवं ह्येतत् सर्वं वदसि तत् कथम्।
मया भूयो भाविते च न बहिः सर्वथा भवेत् ॥ ४ ॥
त्वया तु भावनासिद्धत्वा शैललोकः प्रकल्पितः।
अथाऽपि देशः कालश्च युगपद् द्विविधः कथम् ॥ ५ ॥
तत्राऽसत्यमन्यतरत् कतमं तन्ममेरय।
इति पृष्टो मुनिसुतः प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ ६ ॥
सङ्कल्पो भावना प्रोक्ता सिद्धाऽसिद्धेति सा द्विधा।
सिद्धिर्विकल्पासम्भेदो (ऽ) विकल्पस्त्वेकनिश्चितेः ॥ ७ ॥

महासेन ने मुनिपुत्र की बातें सुनकर एक अच्छे अक्लमंद की तरह इस पर गौर किया और दुनिया के जंजाल को सपने की तरह मानकर उसी समय से गम करना छोड़ दिया ॥ १ ॥

फिर सब्र के साथ शोकरहित होकर उसने मुनिकुमार से पूछा — हे मुनिकुमार ! आप तो बड़े ही अक्लमंद हैं, आगे-पीछे सब कुछ जाननेवाले हैं ॥ २ ॥

फिर भी मुझे अभी थोड़ी-सी बातें अनजान जैसी जान पड़ती है, उसके बारे में कुछ सवाल करता हूँ। कृपया आप समझा दें ॥ ३ ॥

आप कहते हैं ये सारी बातें भावना से हुई है, वह कैसे ? क्योंकि मैं जिनकी भावना करता हूँ, वह वस्तु तो बाहर बिलकुल दीखती ही नहीं ॥ ४ ॥

भावना की सिद्धि की वजह से आपने निश्चय ही पहाड़ के भीतर मौजूद लोक की कल्पना कर ली है। फिर भी बाहर की दुनिया और पहाड़ के भीतर की दुनिया साथ होने पर भी इनमें देश और काल का भेद क्यों हैं ? ॥ ५ ॥

दोनों दुनिया में कोई एक तो झूठ होगी ही, वह कौन है ? यह मुझे बतला दें। इस तरह पूछने पर मुनिपुत्र ने कहना शुरू किया ॥ ६ ॥

पक्का इरादा को ही भावना कहते हैं और वह पक्का और कच्चा दो तरह का

ब्रह्मभावनया पश्य जातं जगदिदं ननु ।
एतत् सर्वैः सत्यरूपं भावितं सुदृढत्वतः ॥ ८ ॥
तथा स्वसङ्कल्पभवे नास्ति कस्याऽपि भावना ।
विकल्पसम्भेद एषोऽसिद्धा तस्माद्विभावना ॥ ९ ॥
भावनायाः सिद्धिरत्र बहुधा संस्थिता भवेत् ।
जन्मना मणिना तद्वदौषधेन च योगतः ॥ १० ॥
तपसा मन्त्रसिद्ध्या च वरेण च भवेन्नृप ।
जन्मना ब्रह्मणः सा वै मणिना यक्षरक्षसाम् ॥ ११ ॥
औषधेन तु देवानां योगिनां योगतो भवेत् ।
तपसा तापसानां सा मान्त्रिकाणां तु मन्त्रतः ॥ १२ ॥
विश्वकर्ममुखानां च वरप्राप्त्या हि साऽभवत् ।
सङ्कल्पिते तथा भाव्यं पूर्वविस्मरणे सति ॥ १३ ॥
स्थिरं तावद्भवत्येवं यावत् पूर्वं न हि स्मरेत् ।
एवमेव निर्विकल्पभावना यदि सुस्थिरा ॥ १४ ॥
अनिच्छया विकल्पस्य यावत् सम्भेदनं न हि ।
तावत् सा भावना सिद्धा साधयेद्वै महाफलम् ॥ १५ ॥

होता है। ऐसे इरादे में संदेह की गुंजाइश नहीं होती। यह तो पक्का है, संदेह न होने का मतलब है — किसी एक में लग जाना ॥ ७ ॥

इस दुनिया को तुम विधाता की पक्की भावना से उत्पन्न जानो। काफी मजबूती की वजह से ही इसे हर व्यक्ति सच मान रहा है ॥ ८ ॥

और तुम्हारी अपनी भावना से उत्पन्न दुनिया में किसी और की सच्ची भावना नहीं होती। इसमें तुम्हारे विकल्प का ही मेल रहने के कारण यह भावना सिद्ध नहीं होती ॥ ९ ॥

राजन्! इस भावना की सिद्धि कई तरह से होती है। जन्म से, कीमती रत्न से, औषधियों से, योग से, तपस्या से, मन्त्र की सिद्धि से या किसी के वरदान से ॥१०½॥

जन्म से विधि को, रत्न से यक्ष और राक्षसों को, औषधि से देवता को, योग से योगी को, तप से तपस्वी को, मन्त्र से मांत्रिक को और वर से विश्वकर्मा आदि को यह सिद्धि मिली थी ॥ ११–१२½ ॥

इरादा इतना मजबूत हो कि पिछली सारी इच्छाएँ विस्मृत हो जाएँ। ऐसा संकल्प तब तक सुदृढ़ रहता है जब तक पूर्व संकल्प न स्फुरे ॥ १३½ ॥

इसी तरह बदलाव रहित मन की चाह जब बिलकुल स्थिर हो जाती है और फिर किसी तरह की इच्छा नहीं रहने की वजह से ही, जब तक उससे किसी तरह की भ्रान्ति का लगाव नहीं होता, तब तक वह सिद्ध भावना बड़ा ही शुभ फल देने वाली बनी रहती है ॥ १४-१५ ॥

सम्भेदात्तु विकल्पेन न सिद्धा तव भावना।
भावनां साधय क्षिप्रं यदि स्रष्टुं समीहसि ॥ १६ ॥
शृणु राजन् ! देशकालद्वैविध्यं वदतो मम।
अव्युत्पन्नोऽसि लोकस्य व्यवहारे ह्यतस्तव ॥ १७ ॥
एतच्चित्रं भासते वै शृणु सम्यग् ब्रवीमि ते।
जगद्भावस्वभावोऽयं विविधत्वेन भासनम् ॥ १८ ॥
एक एव हि सर्वस्य प्रकाशो द्विविधः स्थितः।
दिवान्धानामन्धकार इतरेषां तु भासकः ॥ १९ ॥
जलं मनुष्यपश्वादेः श्वासस्य प्रतिरोधकम्।
मत्स्यादीनां बहिः श्वासप्रतिरोधो जले न हि ॥ २० ॥
अग्निर्दहति मर्त्यादींस्तं भक्षयति तित्तिरिः।
वह्निर्नश्यति तोयेन स जले ज्वलति क्वचित् ॥ २१ ॥
एवं सर्वे जागतास्तु भावा द्वैरूप्यतः स्थिताः।
एवं सेन्द्रियवृत्तान्तास्त्वन्ये केऽपि निरिन्द्रियाः ॥ २२ ॥
स्वभावतो विरुद्धा वै शतशोऽथ सहस्रशः।
अत्रोपपत्तिं वक्ष्यामि समाहितमनाः शृणु ॥ २३ ॥

भ्रान्ति का लगाव बने रहने की वजह से ही तुम्हारी भावना सिद्ध नहीं हुई है। फिर यदि तुम दुनिया का फैलाव चाहते हो तो शीघ्र ही अपनी भावना को सिद्ध करो ॥ १६ ॥

सुनो राजन् ! अब इस दुनिया और पहाड़ के भीतर की दुनिया के देशकाल के दोरूखापन का भेद बतलाता हूँ। क्योंकि तुम सही माने में दुनियादारी को नहीं समझते हो, इसीलिए तुम्हें यह बात विलक्षण ही लगती है। मैं तुम्हें साफ-साफ समझाता हूँ, सुनो। अनेक रूपों में दिखलाई पड़ना तो इस दुनिया की प्रकृति ही है ॥ १७-१८ ॥

सबके लिए उजाला का एक ही रूप है। फिर भी वह दोरूखा है। दिन में अन्धे की तरह उल्लू को नहीं दीखता, पर दूसरे जीवों को तो वह उजाला ही दीखता है ॥ १९ ॥

पानी आदमी और जानवर दोनों को साँस लेने में कठिनाई पैदा करता है। किन्तु उसी पानी में मछली आराम से साँस लेती है और वहाँ से बाहर उसका दम घुटता है ॥ २० ॥

आग आदमी तथा अन्य जीवों को जलाती है; जब कि तीतर उसे खाता है। आग बाहर पानी से बुझती है और कहीं पानी के भीतर जलती भी है ॥ २१ ॥

इस तरह संसार की सारी वस्तुएँ दोरुखी हैं। इनमें कुछ तो इन्द्रियग्राह्य हैं और कुछ इन्द्रियों की पकड़ से बाहर हैं ॥ २२ ॥

एते हि चाक्षुषा भावाश्चक्षुर्विकृतिमात्रकाः।
न चाक्षुषादंशतोऽन्यद् दृश्यमस्ति क्वचिद्बहिः ॥ २४ ॥
यथा पित्तप्रदुष्टाक्षो बहिः पीतं प्रपश्यति।
यथा तैमिरिकोऽन्यस्तु पश्यत्येकं द्विधा स्थितम् ॥ २५ ॥
एवं विचित्रदुष्टाक्षाः पश्यन्ति विविधं जगत्।
अस्ति पूर्वसमुद्रस्य मध्ये करण्डकाह्वयः ॥ २६ ॥
द्वीपस्तत्र जना भावान् रक्तान् पश्यन्ति वै सदा।
एवं रमणकद्वीपे सदा पश्यन्ति वै जनाः ॥ २७ ॥
व्यत्यस्तमूर्ध्वाधरतो निखिलं भावमण्डलम्।
एवमन्येषु द्वीपेषु विविधा भावमण्डलम् ॥ २८ ॥
जना नेत्रस्वभावेन पश्यन्ति खलु सर्वदा।
तत्र तेषामन्यथा तु दृश्यते यदि कुत्रचित् ॥ २९ ॥
नेत्रं सुसाध्यौषधेन पश्यन्ति प्राग्वदेव हि।
अतस्तु चक्षुषा यावद् दृश्यते जगतीतले ॥ ३० ॥
तावद्भवेच्चाक्षुषोंऽशः पीतवत् पीतचक्षुषः।

इस तरह सैकड़ों-हजारों वस्तु आपस में एक-दूसरे के आदतन खिलाफ हैं। मैं इनकी पैदाइश बतलाता हूँ; सचेत होकर सुनो ॥ २३ ॥

इन आँखों से दीख पड़ने वाली वस्तु केवल आँखों की ही खराबी है। आँखों का तमाशा आँखों के विभाग से बाहर कुछ नहीं होता ॥ २४ ॥

पीलियारोगग्रसित आँखों को सारी दुनिया जैसे पीली-ही-पीली नजर आती है; उसी तरह रतौंधी रोग से पीड़ित आँखों वाले को एक ही वस्तु दो दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार तरह-तरह के नेत्रदोषों से दूषित आँखों वाले दुनिया को अनेक रूप में देखते हैं ॥ २५ ॥

पूर्वीय सागर में करण्डक नाम का एक टापू है। वहाँ की हर चीज हर हमेशा लाल-ही-लाल दिखलाई पड़ती है ॥ २६½ ॥

इसी तरह रमणक द्वीप में सारी-की-सारी चीजें हर आदमी को उलटी ही दीखती है। नीचे की ओर सिर तथा ऊपर की ओर पैर ॥ २७ ॥

इसी तरह हर द्वीप में हर आदमी अपनी आँखों की आदत के अनुसार हर चीज को अलग-अलग हमेशा देखा करते हैं ॥ २८½ ॥

वहाँ उन्हें यदि कोई चीज दूसरे तरह से दिखाई देती है तो औषधि प्रयोग से अपनी आँखों को ठीक कर उसे पहले ही की तरह देखने लगते हैं ॥ २९ ॥

अतः दुनिया में जो कुछ हम देखते हैं, वह पीलियारोगग्रस्त आँखों से दीखने वाले पीलेपन की तरह उस आँख का ही एक हिस्सा होता है ॥ ३० ॥

इसी तरह अच्छी या बुरी महक भी तो नाक का ही करिश्मा है। यह सारी

एवं घ्राणादीन्द्रियाणामंशा गन्धादयोऽपि हि ॥ ३१ ॥
मानसाश्च मनोमात्रास्तथैवाऽखिलजागताः ।
क्रमोऽप्यक्षस्वभावोत्थस्ततः किञ्चिद् बहिर्न हि ॥ ३२ ॥
शृणु राजन् ! बहिरिति यल्लोके भाति केवलम् ।
तदाद्यं सर्वजगतां जगच्चित्रस्थभित्तिवत् ॥ ३३ ॥
तस्य बाह्यस्य वक्तव्यमपादानं ध्रुवं ननु ।
शरीरं स्यादपादानं नेतरद्भवितुं क्षमम् ॥ ३४ ॥
तस्याऽपि बहिराभासादपादानं कथं नु तत् ।
पर्वताद् बहिरित्युक्ते पर्वतो न बहिर्भवेत् ॥ ३५ ॥
यथा घटो भासते हि प्राहुस्तद्वच्छरीरकम् ।
भासकाद् बहिरित्येवं वक्तुं वाऽपि न सम्भवेत् ॥ ३६ ॥
दीपसूर्यालोकबहिर्गतानां न हि भासनम् ।
अतस्तु भासकस्यान्तर्भास्यमस्तीति युज्यते ॥ ३७ ॥
भासकं तु न देहादिर्भास्यत्वात् पर्वतादिवत् ।
न सर्वथा यत्तु भास्यं भासकं तद्धि युज्यते ॥ ३८ ॥

दुनिया के जो मन की कल्पना से उत्पन्न विचार हैं, वे सब केवल मन ही तो हैं। देश-काल, बड़े-छोटे आदि का सिलसिला जो चल रहा है, वह भी इन इन्द्रियों की आदत के ही भीतर हैं ॥ ३१–३२ ॥

सुनो राजन् ! संसार में जो बाहर इस तरह दीख रहा है, वही सारी दुनिया की जड़ है। दुनिया रूपी तस्वीर की दीवार भी तो यही है ॥ ३३ ॥

किन्तु उस 'बाहर' का भी कोई निश्चित 'अलगाव' होना चाहिए। यह अपादान अर्थात् अलगाव तो शरीर ही है और कोई चीज तो हो भी नहीं सकती ॥ ३४ ॥

किन्तु यह देह भी तो बाहर ही दीखती है। ऐसी दशा में वह अपादान कैसे हो सकती है ? क्योंकि यदि हम 'पहाड़ से बाहर' कहें तो उससे बाहर पहाड़ तो नहीं माना जायेगा। पर यह शरीर तो जैसे कोई 'घड़ा' दीखता है, उसी तरह दीखने वाला कहा जाता है ॥ ३५½ ॥

ऐसा भी तो नहीं कह सकते कि वह 'प्रकाशक' से बाहर है। क्योंकि जो वस्तु दीपक या सूर्य के प्रकाश से बाहर होती है, वह तो प्रकाशित ही नहीं हो सकती। अतः यही कहना ठीक है कि प्रकाशित होने वाली वस्तु प्रकाशक के भीतर ही होती है ॥ ३६-३७ ॥

देह कभी प्रकाशक नहीं हो सकती। क्योंकि वह तो पहाड़ प्रभृति की तरह प्रकाशित होने वाली वस्तु है। प्रकाशक तो वही हो सकता है जो किसी प्रकार प्रकाशित न होने वाला हो ॥ ३८ ॥

विशेष—थोड़ी देर के लिए यदि प्रकाशक को प्रकाशित होने वाला मान भी

भासकस्याऽपि भास्यत्वे भासकस्याऽनवस्थितिः।
स्वस्यैव भासकत्वं च भास्यत्वं न हि युज्यते ॥ ३९ ॥
अतस्तु भासकं शुद्धं भासकैकस्वरूपकम्।
तच्च भारूपमेवेह पूर्णमेकरसात्मकम् ॥ ४० ॥
तेन व्याप्ता देशकाला भासनात्तस्य पूर्णता।
अभारूपस्य वाऽभानाद्भारूपैकरसं हि तत् ॥ ४१ ॥

लिया जाय तो फिर सवाल यह उठेगा कि वह प्रकाशित किससे होता है? उसका यदि कोई प्रकाशक मानेंगे तो उससे भी प्रकाशित होने वाला मानना होगा और फिर उसके बारे में भी यही सवाल उठेगा। अतः फिर कोई भी चरम प्रकाशक सिद्ध न होने के कारण अनवस्था दोष होगा।

अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा कि जो वस्तु जहाँ उद्गम पाती है, उसमें ही अन्ततः लीन भी होती है। उद्गम बिन्दु ही लयबिन्दु भी होता है और जो उद्गम है, जो लय है, वही अपना स्वरूप भी है।

यदि प्रकाशक प्रकाशित होने वाला भी बन जाय तो प्रकाशक का निर्णय करने में स्थितिहीनता का दोष दीख पड़ता है। कोई भी वस्तु खुद अपना प्रकाशक एवं अपना ही प्रकाश्य नहीं हो सकता ॥ ३९ ॥

अतः जो प्रकाशक है, वह सिर्फ प्रकाशक ही है। वह केवल प्रकाशस्वरूप, पूर्ण और एकरसात्मक है ॥ ४० ॥

उस प्रकाश रूप प्रकाशक के द्वारा देश और काल भी पूरित है, क्योंकि उसी की सत्ता से वे प्रकाशित होते हैं, इसी से उनको पूर्णता सिद्ध होती है। जो प्रकाश रहित है, उसके अस्तित्व का तो बोध ही नहीं होगा। इसलिए वह एकरस एवं प्रकाशस्वरूप ही है ॥ ४१ ॥

विशेष – प्रकाश और प्रकाश्य का सम्बन्ध ठीक सागर और लहर की तरह है। जैसे सागर की लहरें अन्ततः सागर में ही लय को प्राप्त हो जाती हैं। उसी तरह प्रकाश्य भी प्रकाशक में अपनी समस्त वृत्ति-तरंगों को शून्य कर उस परम चेतना में ही लीन हो जाते हैं।

प्रकाश्य और प्रकाशक का भेद घड़े और कपड़े के भेद की तरह स्थूल नहीं है। इनका भेद तो आईने और परछाई की तरह भिन्न होते हुए भी अभिन्ता हैं। जिस तरह आईने के बिना परछाई का अस्तित्व नहीं होता, उसी तरह चिन्मात्र आत्मा से अतिरिक्त दृश्य जगत् की सत्ता ही नहीं है। अतः दृश्य रूप से भी चिति ही प्रकाशित होती है। यही उसकी पूर्णता है।

प्रकाश के द्वारा ही प्रकाशक को जाना जाता है। इस बोध में न कोई ज्ञेय होता है और न कोई ज्ञान। स्वयं से स्वयं का प्रकाशित होना ही मनुष्य का ज्ञेय है। जीवन के प्रयोजन अर्थवत्ता का उसी प्रकाशक के अस्तित्व से उद्घाटित होता है। यही पूर्ण सच है। यह अनुभूतिगम्य है।